जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला १

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

चौखम्बा प्रकाशन

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला १

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

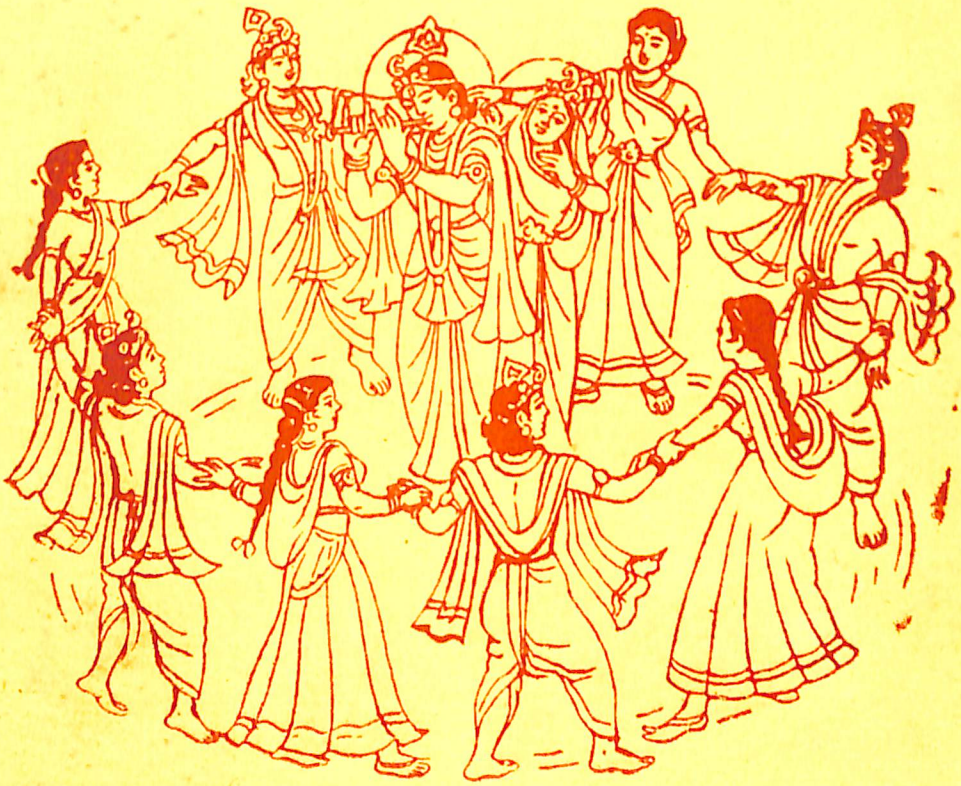

चौखम्बा प्रकाशन

दास-कृष्णदास राज्यविद्या ग्रन्थमाला

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१

श्रीशुद्धाद्वैतसम्प्रदायाचार्यानुमोदिता

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

(महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यविरचिता श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-रासपञ्चाध्यायीव्याख्या)

हिन्दी व्याख्याकार

श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन जी) चतुर्वेदी

(दशभुजी गणेश, शरवन पुरा, मथुरा)

शुभाशंसक

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यवंशावतंस विद्वन्मूर्धन्य-

गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज

प्रेरक-सहायक

एवं

प्राक्कथन-लेखक

प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२८
मूल्य : ३०-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

THE
JAIKRISHNADAS-KRISHNADAS PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA

RĀSAPAÑCĀDHYĀYĪ
ŚRĪ SUBODHINĪ

Being

A COMMENTARY ON THE FIVE RĀSA CHAPTERS

of

ŚRĪMAD BHĀGAVATA

by

MAHĀPRABHU ŚRĪ VALLABHĀCĀRYA

AS ACCEPTED BY THE ĀCĀRYAS OF

THE ŚUDDHĀDVAITA SECT

With A Hindi Commentary

by

ŚRĪ Pt JAGANNĀTHA (MUNMUNJI) CATURVEDĪ

Introduced by

GOSVĀMĪ ŚRĪ DĪKṢITAJĪ MAHĀRĀJA

Preface by

PROF. RADHESHYAM RASTOGI

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1971

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office

Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1971
Phone : 63145

First Edition
1971
Price : Rs. 30-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

अखण्डभूमण्डलाचार्य-

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुः

विषय-प्रवेश

पृ०

शुभाशंसा : गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज : बंबई ९–१२

प्राक्कथन : प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी : लखनऊ १५–१७

शुभाशीर्वचनम् १९–३४

(१) द्वितीय पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री कल्याणराय जी महाराज : नाथद्वारा २१

(२) तृतीय पीठाधीश्वर गो० श्री० १०८ : श्री व्रजभूषणलाल जी महाराज : कांकरोली २२

(३) चतुर्थ पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री देवकीनन्दन जी महाराज (श्री सुरेश बाबा) : गोकुल २३–२४

(४) पञ्चम पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री गोविन्दलाल जी महाराज : भरतपुर २५

(५) षष्ठ पीठाधीश्वर गो० श्री १०८ : श्री मुरलीधरलाल जी महाराज : गोपालमन्दिर, काशी २६–२८

(६) गो० श्री १०८ : श्री व्रजरत्नलाल जी महाराज : सूरत २९–३१

(७) गो० श्रीमती शरदवल्लभा बेटी जी : वाराणसी ३२–३३

(८) स० गृ० गोस्वामी श्री १०८ : श्री रघुनाथलाल जी महाराज : भरतपुर ३४

शुभाकांक्षा : महामहिमोपाध्याय, पडितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड ३५–३६

हर्षोद्गार : माननीय श्री महेशप्रसाद जी, जिलाधीश, वाराणसी ३७

'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' : संक्षिप्त परिचय ३९–४२

भूमिका : श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन जी) चतुर्वेदी : हिन्दी व्याख्याकार १–५४

ग्रन्थारम्भः १–५२३

प्रथमाऽध्याय : श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धस्थ षड्विंशाध्यायविवरण १

द्वितीयाऽध्याय : " " सप्तविंशाध्यायविवरण १७५

तृतीयाऽध्याय : " " अष्टविंशाध्यायविवरण २५२

चतुर्थाऽध्याय : " " एकोनत्रिंशाध्यायविवरण ३१५

पञ्चमाऽध्याय : " " त्रिंशाध्यायविवरण ४०६

रासपञ्चाध्यायीस्थ श्रीमद्भागवत-श्लोकानुक्रमणिका ५२५

रासपञ्चाध्यायीस्थ 'श्रीसुबोधिनी' व्याख्योक्त श्लोकानुक्रमणिका ५२७

शुभाशंसा

गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज
(बंबई)

'ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद स किं ऋचा करिष्यति य इद्विदुस्त इमे समासते ॥ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' इत्यादि श्रुति-स्मृति से सिद्ध एवं ब्रह्ममूत्रसमन्वयाध्यायद्वारा भगवान् वेदव्यास के द्वारा प्रतिपादित सर्वश्रुतिसमन्वित ब्रह्म का समन्वय उभय प्रकार से है।

भगवान् वेदव्यास ने समन्वयाध्याय में शब्दात्मिका श्रुतियों का आध्यात्मिक प्रकार से ब्रह्म में समन्वय दिखाया है और उन्हीं ऋचाओं का आधिदैविक समन्वय महर्षि व्यास ने 'रासपञ्चाध्यायी' में दिखाया है। 'वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे' श्रीमद्भागवत के इस वाक्य से जिस तरह वेदों का मन्त्रात्मक रूप है, उसी तरह वेदों का मूर्तिमद् रूप भी सिद्ध होता है। तद्वत् वेद की ऋचाओं का भी मूर्तिमद्रूप—'**मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः**'—'रासपञ्चाध्यायी' के इस वाक्य से सिद्ध होता है। इन्हीं का समन्वय रासपञ्चाध्यायी में प्रतिपादित है।

सर्वप्रथम हमको देखना चाहिए कि इस रास में प्रविष्ट गोपियों का स्वरूप क्या है ?

'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ! ताः श्रुतयः किल ।
नाहं शिवः शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित् ॥
षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा ।
तथापि न मया प्राप्ताः तासां वै पादरेणवः ॥' (वृहद्वामनपुराण)

(व्रज की रमणियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं, ये तो श्रुतियाँ ही हैं, अर्थात् श्रुतियाँ गोपियों का रूप धारण कर ब्रह्म के साथ रमती थीं। न मैं, न शिव, न शेष या न लक्ष्मी जी भी उनके बराबर हैं। पूर्वकाल में साठ हजार वर्ष तक मैंने तपस्या की, तब भी उनका पद-रज भी मुझे नहीं मिल सका।)

वृहद्वामनपुराण के इन वचनों से श्रुतिरूपा गोपीजन हैं, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। ये श्रुतियाँ भगवान् बादरायण के मत से ब्रह्म में ही समन्वित हैं। इसी को वेदानुकूल युक्तियों से विद्वानों के लिये भगवान् वेदव्यासने समन्वयाध्याय में सिद्ध किया और इन आध्यात्मिकरूपा श्रुतियों के समन्वय को वेदानुकूल युक्तियों से उपपादित कर इन्हीं श्रुतियों के आधिदैविक-रूपक रसात्मक समन्वय को प्रदर्शित करने के लिये भावुक भक्तहृदय रसिकों के लिये भगवान् वेदव्यास ने दशमस्कन्ध में पञ्चाध्यायी का आविर्भाव किया है। किन्तु इस पञ्चाध्यायी का वास्तविक तात्पर्य श्री सुबोधिनीजी के परिज्ञान विना प्राप्त होना नितान्त कठिन है।

एकमात्र श्री सुबोधिनीजी ही ऐसी व्याख्या है जिसके परिज्ञान से रास में प्रविष्ट श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा (कुमारिका) गोपियो के स्वरूप को हम समझ सकते हैं। श्री सुबोधिनीजी को देखे विना गोपीजनों के स्वरूप-सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अच्छे-अच्छे विज्ञ विद्वानों को 'कामाद् गोप्यः' इस वाक्य का भ्रान्त अर्थ करते हुये मैंने स्वयं देखा है।

पञ्चाध्यायी प्रकरण में त्रिविध गोपियों का सम्बन्ध है—श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा और अन्तर्गृहगता। अन्तर्गृहगता का जो प्रकरण है उसका उद्देश्य ही यह है कि रासाधिकारी ऐसी कौन गोपीजन हैं जिन्होंने भगवत्स्वरूप को—

'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति यस्यं आत्मा शरीरं स आत्मान्तर्याम्यमृतः।'

(जो आत्मा में रहते हुए आत्मा को अन्दर से नियन्त्रित करता है, और जिसका आत्मा, शरीर है वह परात्मा अन्तर्यामी अमृत है।)

इस वृहदारण्यक उपनिषद् वाक्य के अनुसार तथा—

'अहमात्मात्मवान् धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।'

(मैं आत्मा का भी आत्मा हूँ और प्रियवस्तुओं में भी अतिप्रिय हूँ।)

इस भागवत वाक्यानुसार जिन्होंने विशुद्ध आत्मात्मभाव से भगवान् में सर्वथा निष्काम स्नेह किया है, वे ही रासाधिकारिणी और वे ही श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा हैं और जिनको कामभाव संयुक्त जारभाव से स्नेह हुआ, उन अन्तर्गृहगता गोपीजनों का रास में प्रवेश ही नहीं है। यही बात—

'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥'

(उसी परमात्मा को 'जार' समझ कर भी मिली हुई (प्रेम करने वाली) व्रज की स्त्रियों ने त्रिगुणात्मक शरीर का त्याग किया और तत्काल संसार-बन्धन से मुक्त हो गईं।)

इन श्लोकों से भगवान् शुक रास में प्रविष्ट गोपीजनों का एवं रास में अप्रविष्ट गोपीजनों का स्वरूप पृथक् पृथक् करके दिखाते हैं। इनकी जारभाव से रति है जो कि रास में अप्रविष्ट हैं। इस बात को दिखाने के लिये ही—'जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः' ऐसा कहा है और जिनका रास में प्रवेश है, उनकी आत्मभाव से रति है। इस बात को सुव्यक्त दिखाते हुए—'श्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ।' यह वाक्य इनके मुख से कहलाया है। किन्तु इन सब प्रभेदों का ज्ञान श्री सुबोधिनीजी के ज्ञानाधीन है।

श्री सुबोधिनीजी का साम्प्रदायिक अध्ययन जिस पद्धति से हम लोगों को मिला है उस प्रकार का अध्ययन आज विरल हो गया है। ऐसी परिस्थिति में इन ग्रन्थों का हिन्दी भाषानुवाद वर्तमान युग में परमावश्यक है, और वह भी अनुवाद केवल श्री सुबोधिनीजी का ही हो, तब भी पर्याप्त नहीं है। किन्तु टिप्पण्यादि व्याख्योपव्याख्यायुत श्री सुबोधिनीजी को हम वास्तविकता से समझ सकते हैं। यह कार्य भगवच्चरण प्राप्त बाबू श्री बृजगोपाल जी तथा श्रीयुत प्रो० राधेश्याम जी रस्तोगी के प्रोत्साहन एवं परमाग्रह से सम्प्रदाय-रहस्य के सुयोग्य ज्ञाता विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ (जगन) जी ने अतिसुन्दर रीति से सम्पादन किया है, और इसके प्रकाशन-मुद्रण कराने में प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी के प्रोत्साहन से चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष स्वनामधन्य गोलोकवासी श्री जयकृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री मोहनदास जी गुप्त तथा स्वनामधन्य गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी के सुपुत्र

श्री विट्ठलदास जी गुप्त, इन दोनों बन्धुओं के सर्वविध सहयोग एवं प्रोत्साहन से सर्वाङ्गपूर्ण हो कर सम्पन्न हुआ है, इससे मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। अत्यधिक प्रसन्नता इस बात से है कि गोलोकवासी श्री हरिदास जी गुप्त तथा उनके सुपुत्र बन्धुद्वय गोलोकवासी श्री जयकृष्णदास जी गुप्त तथा गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी गुप्त ने निःस्वार्थभाव से संस्कृत साहित्य की जो सेवा की है, वह विश्व-प्रसिद्ध है। इसके लिये हम सभी संस्कृत विद्वान् उनके चिरऋणी हैं।

बहुत ही हर्ष और प्रमोद का विषय है कि 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' के समुत्थापक गोलोकवासी बन्धुद्वय श्री जयकृष्णदास जी गुप्त तथा श्री कृष्णदास जी गुप्त के स्मारक स्वरूप 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' में सर्वप्रथम यह ग्रन्थरत्न 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' प्रकाशित हो रहा है।

श्री चि० मोहनदास तथा श्री चि० विट्ठलदास, इन दोनों उदीयमान बन्धुओं ने अपने-अपने पिता के भावानुरूप उन दोनों पुण्यात्माओं की स्मृति में 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का जो इतना सुन्दर मनोरम मुद्रण कर के पितृ-ऋण से मुक्त होने का स्तुत्य प्रयास किया है, इसके लिये मैं दोनों बन्धुओं का हार्दिक और अनन्त आशिषाभिनन्दन करता हूँ तथा पुनः बाबू श्री बृजगोपाल जी तथा प्रो० श्री राधेश्याम जी एवं सफल हिन्दी व्याख्याकार श्री जगन्नाथ (जगन) जी का भी हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। इति शम्।

गोस्वामिदीक्षितजी

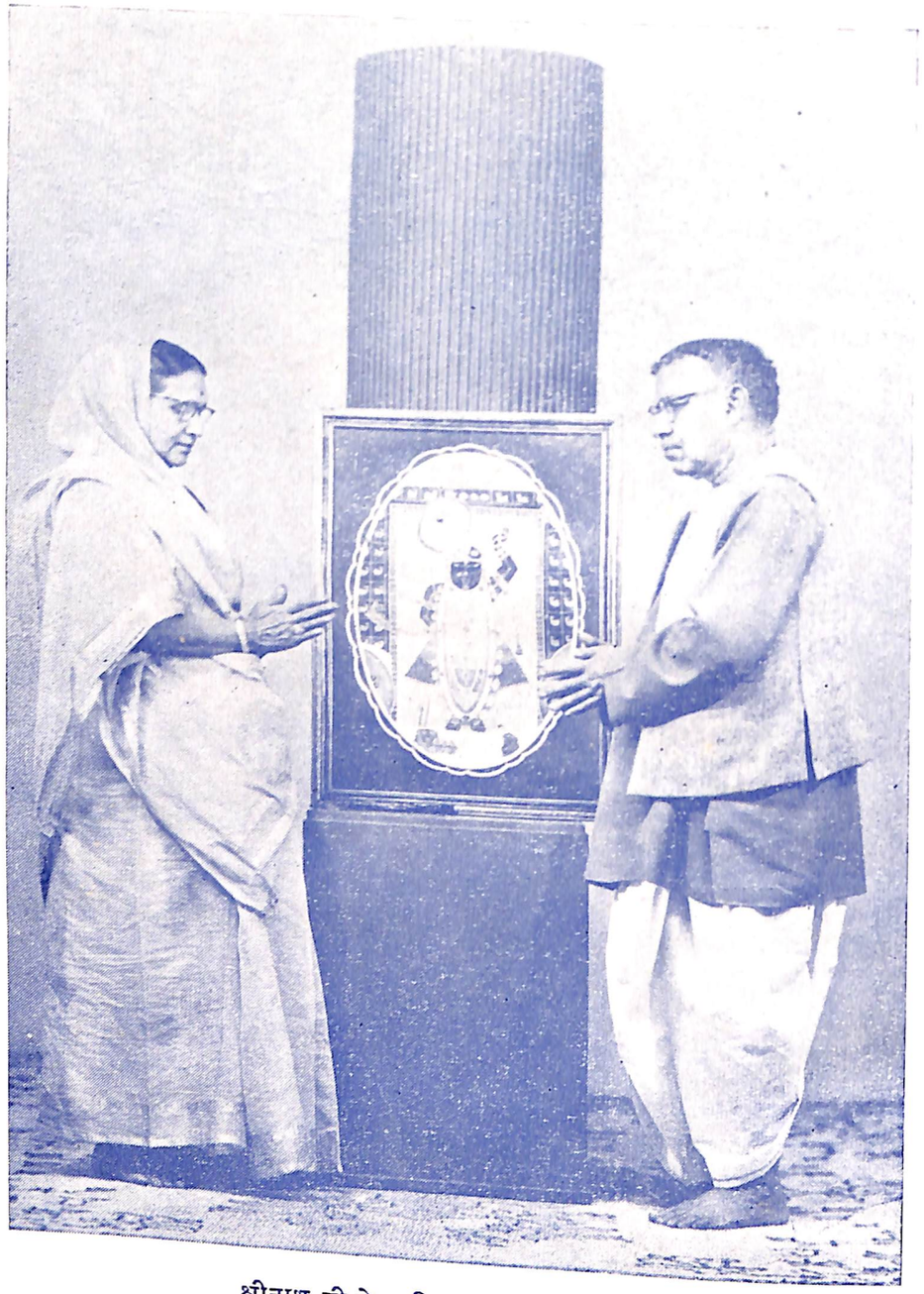

श्रीनाथ जी के सान्निध्य में लखनऊ निवासी
प्रोफेसर श्री राधेश्याम जी रस्तोगी, स्वर्गीया धर्मपत्नी सहित

प्राक्कथन

श्रीमद्भागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायण परमाचार्यवर्य श्रीमन्महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने अपने प्रस्थानचतुष्टय में श्रीमद्भागवत की समाधिभाषा को प्रमेयतत्त्व का परम प्रतिपादक माना है। इनमें वर्णित भगवच्चरित्र भवरोगग्रसित जीवों के लिए महामहौषधि के समान है, तो आत्माराम निष्काम परमहंसजनों के लिए भी लोक के परे परमानन्द का अनुभव कराना इनका महान् वैशिष्ट्य है।

यह वैष्णवों का परम धन है। अखिल क्लेशकीला ललित श्री हरिलीला की अमन्द मन्दाकिनी इसमें अनवरत रूप से प्रवाहशील है।

आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक श्री हरि के पाद-पद्म का रसास्वादन करा देना ही इनका परम फल है। समस्त संशयों का यह शयन-स्थल है।

कलिकाल-तमश्छन्न प्रसुप्त तन्द्रिल भगवद्भावविस्मृत मायापिशाची के लौहमय करों से पिसे हुए, दरिद्रता के दुःख से प्रपीड़ित एवं आशाओं के पाश से जकड़े हुए मानवों के लिए श्रीमद्भागवत का अधिकारभेद से सबके उद्धार की सुखद सान्त्वना प्रदान करने की कृपा करना सहज स्वभाव है।

महर्षि वेदव्यासरचित पुराणों में इनका सर्वतंत्र स्वतंत्र स्थान है।

'यस्मिन् पारमहंसमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।' इस उक्ति के अनुसार यह मूधन्य माना गया है। वास्तव में इसके सम्बन्ध में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है।

भगवदीय विद्वज्जनों की राय में इतिहासों में पुराण और पुराणों में श्रीमद्भागवत और भागवत में दशमस्कंध और दशमस्कंध में भी रासपञ्चाध्यायी एक श्रेष्ठतम प्रसंग माना गया है। श्रीमद्भागवत-पीयूषसमुद्रमथनक्षम परम दार्शनिकाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने अपनी टीका श्री सुबोधिनी जी में इसका सुन्दर आख्यान किया है। वस्तुतः इस पञ्चाध्यायी में वर्णित लीला के गूढ रहस्य की व्याख्या प्राकृत जगत में नहीं की जा सकती। क्योंकि यह जागतिक क्रीड़ा ही नहीं है। यह तो भौतिक संस्पर्शशून्य परम दिव्यमय, आनंदमय, रसमय, राज्य की

चमत्कारमयी लीला है, जिसका दर्शन एवं श्रवण करने के लिए आत्माराम परमहंसजन भी परम उत्कंठित रहते हैं।

श्रीनन्दनन्दन की मुखाम्बुज-सुधा का अपने अंजनयुक्त नयनों से पान करने वाली नित्यसिद्धा परम सौभाग्यशालिनी रसमयी गोपियों के साथ रमण करने वाले व्रजराज, व्रजजन-सर्वस्व, प्राणप्रियतम परब्रह्म सगुण निर्गुण से परे भक्तजनवश्य नित्यनिकुंजेश्वर भगवान् श्यामसुन्दर के अप्राकृत अपरिमेय लीला-रस का वर्णन इस पञ्चाध्यायी में ही मिलता है।

जिनकी चरण-धूलि की प्राप्ति, जन्मजन्मान्तर तप करने वाले योगियों को भी नहीं हो पाती। विविधसाधनों के अनुष्ठान करने के बाद भी जिनकी सांवरी सलोनी मूर्ति ध्यान में नहीं आती, उन प्रभु को अपने, हाव-भाव कटाक्ष आदि स्नेहमयी क्रिया के द्वारा सामने उपस्थित करके उनके श्रीविग्रह का चिदानन्दमय रसास्वादन करने वाली मोक्ष संन्यासिनी गोपिकाओं के रसमय कथानक का यह केन्द्र है।

समस्त रसशास्त्रों के आलम्बनभाव आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के स्थायीभाव को महाभाव में उद्दीपन करने वाली परम उद्दीपिका रसकल्लोलिनी गोपीजनों की सहज सुबोध प्रीति की रीति का परम मार्मिक वर्णन रासपञ्चाध्यायी का प्रमुख विषय है।

ब्रह्मादिक देववृन्द जिनके जूठन प्रसाद की इच्छा बार बार करते हैं, उन्हें अपना चर्वित ताम्बूल देकर स्ववश कर लेना इन महामहिमशालिनी गोपिकाओं का ही काम है।

रसशास्त्रसागर श्री शुकाचार्य जी के शब्दों में इस पञ्चाध्यायी का प्रारम्भ होता है। कुन्द, मंदार, कचनार, अनार, कदंब, जूही, चम्पा, मौलिश्री, गुलाब आदि प्रसून भी अपने-अपने रसमयी विहसन से व्रजराज प्रभु के चरणकमल में स्वकीय अंजलि उपस्थित करते हुए महारासेश्वर प्रभु की लीला का दर्शन करते हैं।

"जन्म कर्म च मे दिव्यम्" इस भगवद्वाक्यानुसार प्रभु ने परम लीलाधिकारिणी स्वयंवश गोपियों के साथ जो महारास किया, वह सर्वथा भौतिक संस्पर्श शून्य है।

इस अलौकिक लीला को समझने के लिए परम भगवत्कृपाबल की आवश्यकता है। वह साधनसाध्य न होकर भगवत्कृपासाध्य है। लौकिक अंगसंयोगजन्य क्षणिक सुख की कल्पना की कसौटी पर उस परम दिव्यातिदिव्य निर्मल निष्कलंक भगवल्लीला-प्रसंग (जिसके नायक थे सच्चिदानंद विग्रहपरात्पर तत्त्व पूर्णतम स्वाधीन और अंकुशरहित स्वेच्छा-विहारी गोपीजन-प्राणवल्लभ नन्दनन्दन भगवान्, और नायिका थीं, स्वयं आह्लादिनी शक्ति नवनिकुंजेश्वरी वृन्दावनाधीश्वरी ठकुरानी राजरानी महारानी श्री राधाजी, और उनकी

ही कायव्यूहस्वरूपा स्वतःसिद्धा घनीभूत प्रेमस्वरूपिणी श्री गोपीजन) को परखना अक्षम्य अपराध है।

इस रसमय रासप्रसंग की फलश्रुति का वर्णन व्यास-कुमार श्री शुकाचार्य जी महाराज के श्रीमुख से किया जाता है—

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥'

व्रजवधुओं के साथ भगवान् की इस रासक्रीडा का जो धीरपुरुष श्रद्धायुक्त (संशयहीन) मन से श्रवण और कीर्तन करेगा वह प्रभु की प्रेमापरा भक्ति को प्राप्त होगा और हृद्रोग (काम क्रोधादि षड् विकार, अहंता, ममतात्मक सांसारिक भाव जो कि जीव के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर प्रभु से दूर रखते हैं) सर्वथा विनष्ट हो जायगा।

भक्ति-मार्गाब्ज-मार्तण्ड श्रीमद्वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी टीका में रसिक भगवज्जनों के परमानंद प्राप्ति हेतु इस महारास का सुमधुरभावपूर्ण वर्णन किया है। विस्तार न करके मुझे यह प्रस्तावना पुष्पांजलि लेकर उपस्थित होते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

इस परम रसमय सुबोधिनी आख्यान का हिन्दी अनुवाद व टीका नित्य भगवल्लीला प्राप्त, संप्रदाय के वयोवृद्ध विद्वान् भगवत्सेवाकथानुरागी परम भगवदीय श्री जगन्नाथ चतुर्वेदी, (मुनमुन जी) मथुरा धाम निवासी ने परम परिश्रम व अनुशीलन के साथ किया था। उन मनीषिवर्य के हम महान आभारी हैं जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार करते हुए इस परम पुनीत कार्य को संपादित किया था।

श्रीमदाचार्य-पीठाधीश्वरों के शुभाशीर्वचनों से इस संस्करण का जो अभिनन्दन किया गया है उसके लिये लेखक, प्रकाशक और हम तीनों सोत्फुल्ल आभारी हैं। गोस्वामी श्री दीक्षित जी महाराज की 'शुभाशंसा' के आलोक में यह संस्करण और भी चमक उठा है। रासलीला के प्रसंग को लेकर जनसाधारण में जो भ्रान्तियाँ फैली हुई थीं, श्री दीक्षित जी की 'शुभाशंसा' से सभी दूर हो जाती हैं। उनकी विद्वत्ता सर्वतोभावेन स्तुत्य है।

इस दिव्य संस्करण से भगवत्प्रेमीजन लाभ उठाकर अलौकिक फल के भागी बनें तथा मेरे प्रयास को अपनी शुभकामनाओं से संवर्धित करने की कृपा करते हुए मेरे द्वारा की गई त्रुटियों को क्षमा करें। विशेष श्री हरिकृपा—।

श्री मद्वल्लभचरणरजानुरागी वैष्णवों को सप्रेम भगवत्स्मरण!

—राधेश्याम रस्तोगी

शुभाशीर्वचनम्

(१)

द्वितीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री कल्याणराय जी महाराज

(नाथद्वारा, राजस्थान)

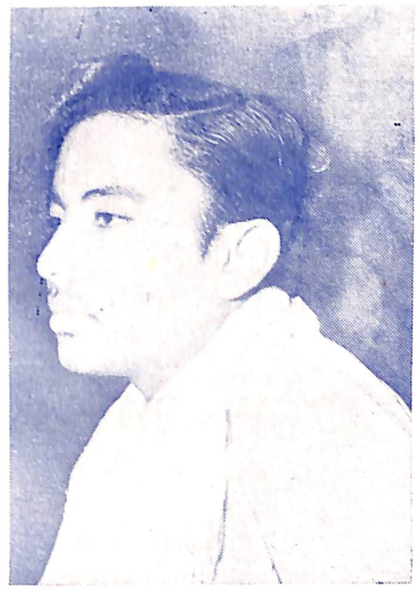

मैंने 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' के प्रथम पुष्परूप प्रकाशित ग्रन्थ श्रीमदाचार्यचरण प्रणीत तामसफलान्तर्गत प्रकरण 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का अवलोकन किया। इसके सुन्दर प्रकाशन एवं मुद्रण कराने का श्रेय सम्प्रदाय के निष्ठावान् सेवक श्री मोहनदासजी गुप्त तथा श्री बिट्ठलदास जी गुप्त बन्धुओं को है, जिन्होंने अपने-अपने गोलोकवासी सम्प्रदायानुरागी पिता की स्मृति में वल्लभीय सृष्टि के लिए एवं श्रीभागवतपिपासुओं के हितार्थ इस अनुपम पुष्प को प्रकट किया है।

इस ग्रन्थ के हिन्दीव्याख्याकार पुष्टि-साहित्य के मर्मज्ञ एवं रसज्ञ श्री पं० जगन्नाथ जी चतुर्वेदी ने इस स्तुत्य सत्कार्य द्वारा अपनी लेखनी को सफल किया है। श्री चतुर्वेदीजी ने श्रीसुबोधिनीजी पर यावत् उपलब्ध, साहित्य का सदुपयोग समुचित ढंग से इस ग्रंथ में किया है जिससे पाठकों को समझने में सारल्य हो जाता है। गूढ भावों के रहस्य को भी सुबोध शैली में वर्णित किया गया है।

मैं ऐसे सुन्दर एवं मनोरम पुष्टि साहित्य के प्रथम प्रकाशन के लिए गुप्त बन्धुओं का अभिनन्दन करता हूँ और भविष्य में भी वे सम्प्रदाय के साहित्य का प्रकाशन करते रहें यही सुकामना करता हूँ।

गो. कल्याणराय

(२)

तृतीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री व्रजभूषणलाल जी महाराज

(कांकरोली)

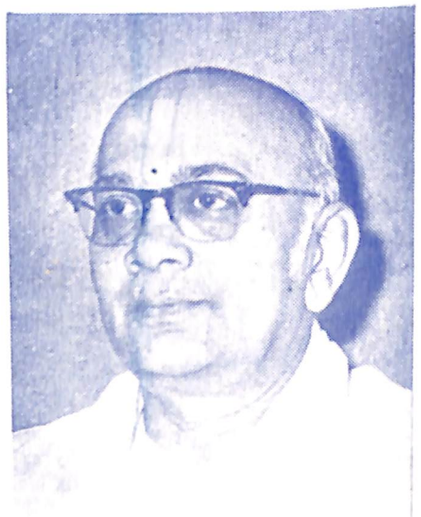

'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' का प्रथम पुष्प 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' प्राप्त हुआ। अवलोकन करने से ज्ञात हुआ कि श्रीमद्भागवत के तत्त्वपूर्ण रसप्रसंग को लेकर ग्रन्थमाला का यह प्रारम्भ एक सुन्दर प्रयास है।

अनुवाद की भाषा भी सुन्दर है। श्री सुबोधिनी के पूरे साहित्य के उल्लेख के साथ अनुवाद का प्रकाशन इसकी विशेषता है। सबसे विशिष्ट बात यह है कि मूल सुबोधिनी को अनुवाद के साथ रखा गया है। अनुवादक प्रायः मूल को भूल जाते हैं, जिससे किस शब्द का क्या अर्थ वा मर्म है, यह पाठक को विदित नहीं हो पाता, परन्तु प्रस्तुत संस्करण सर्वाङ्गपूर्ण है।

श्री दीक्षित जी ने अपनी 'शुभाशंसा' में व्रजसीमन्तिनियों एवं भगवान् के स्वरूप को थोड़े शब्दों में समझाते हुए जो लिखा है, वह रासपञ्चाध्यायी पढ़ने के पूर्व वास्तव में मननीय है।

उपर्युक्त ग्रन्थमाला की प्रस्तुत योजना द्वारा सम्प्रदाय एवं संस्कृत साहित्य की सेवा सराहनीय है।

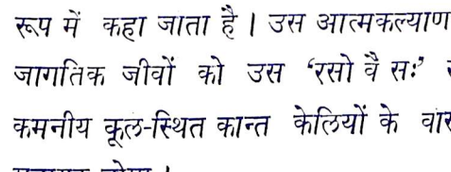

(३)

चतुर्थ पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री देवकीनन्दन जी महाराज

(श्री सुरेश बाबा)

गोकुल, मथुरा

॥ श्रीगोकुलेशो जयति ॥

श्रीवल्लभकृतां रास-पञ्चाध्यायीं शुभामिमाम्।
टीकां सुबोधिनीं वन्दे लोकालोकोज्ज्वलोज्ज्वलाम् ॥ १ ॥
भागवतार्थोऽगाधः क्व, क्वाऽल्पविषया मतिः।
तथापि सन्निरोधार्थं शुभाशंसा समर्प्यते ॥ २ ॥

इस प्रपञ्चात्मक विश्व में जब चारों ओर से भव-विभीषिका मुंह बाये दौड़ी हुई आ रही है, नित्य नव दारुण दुःख-परम्परा जन-मानस को प्रताडित कर रही है; तब शान्ति के शाश्वत सुगम पथ पर अग्रसर होने के लिए श्रीमद्भागवत की परमाराध्य श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण-कृत 'श्रीसुबोधिनी' टीका ही सांसारिक जनों के लिए एकमात्र साधन है।

जीव की कामना 'सुखं मे भूयात् दुःखं मे मा भूत्' इस वाक्य के अनुसार सतत सुख-परक रही है। इस सांसारिक सुख से भी कहीं अधिक एक और सुख है, जिसे आत्मकल्याण के रूप में कहा जाता है। उस आत्मकल्याण की दिशा में श्रीमदाचार्यचरण का यह चरम चिन्तन जागतिक जीवों को उस 'रसो वै सः' रस निधि व्रजेन्द्रनन्दन की कलित कलिन्दजा के कमनीय कूल-स्थित कान्त केलियों के वास्तविक दर्शन का पथ प्रशस्त करने में विशेष रूप से सहायक होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थरत्न-प्रकाशक परम भगवदीय श्री जयकृष्णदास जी के आत्मज श्री मोहन-दास जी तथा परम भगवदीय श्री कृष्णदास जी के सुत श्री विट्ठलदास जी बन्धुद्वय ने श्रीमद्भागवतमहापुराण दशमस्कन्धान्तर्गत श्रीकृष्णप्राण रासपञ्चाध्यायी की आचार्य-पाद-कृत श्रीसुबोधिनी टीका की हिन्दी व्याख्या पुष्टिसम्प्रदाय के सौहार्दविज्ञ श्री पं० जगन्नाथ जी चतुर्वेदी द्वारा कराकर अपने-अपने गोलोकवासी पिता के स्मृति-स्वरूप "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" के प्रथम पुष्प रूप में प्रकाशित कर सम्प्रदाय की जो स्तुत्य सेवा की है, इसके लिए वे वैष्णवजगत् के आशीर्वादपात्र हैं।

सर्वान्तर्यामी निखिल ललित-लीला-ललाम मदीय सतत आराध्यतम श्रीगोकुलेशप्रभु के चारु चरणारविन्दों में साग्रह निवेदन है कि वे बन्धुद्वय को चिरायुष्य प्रदान कर विविध साम्प्रदायिक धर्मग्रन्थों के प्रणयन एवं प्रकाशन में प्रेरित करते रहें।

'रासलीला हरेर्जीयात् यत्र वै रमते हरिः।
प्रपञ्चात्मकपरे लोके नित्यानन्दप्रदायिनी॥'

गोस्वामी देवकीनन्दन

(सुरेश बाबा)

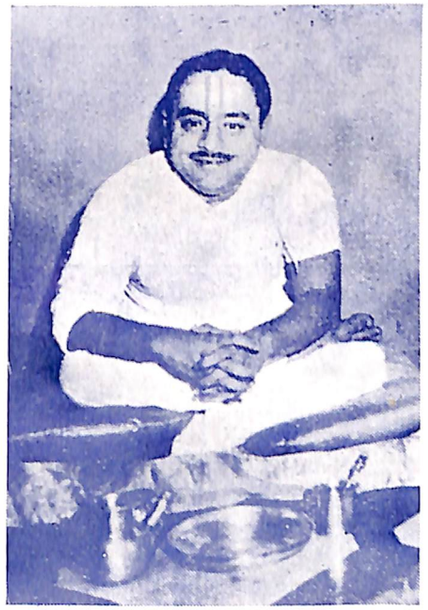

(४)

पञ्चम पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री गोविन्दलाल जी महाराज

(कामां, भरतपुर)

मंगलमय प्रभु की परम अनुकम्पा से हिन्दी का साहित्य क्षेत्र 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' के प्रकाशन से पल्लवित हो उठा है। इसका हिन्दी व्याख्यान श्री पं० जगन्नाथ चतुर्वेदी (मुनमुन जी) मथुरा निवासी ने बहुत ही परिश्रम तथा सावधानी से किया है। आचार्य श्री महाप्रभु ने 'श्री सुबोधिनी जी' के द्वारा वैष्णव जनों को प्रभु का तात्त्विक दर्शन कराया है। हमारा तो दृढ विश्वास है कि 'श्री सुबोधिनी' का तात्त्विक अध्ययन कर लेने के बाद ही रासलीला का पूर्ण मौलिक रहस्य समझ में आ सकता है। आधुनिक युग में इन लीलाओं पर जैसी शंकाएँ जनता में उठाई जाती हैं, उन सब का पूर्णतः समाधान प्रस्तुत श्री सुबोधिनी की व्याख्या के सावधान अनुशीलन से हो जाता है। इस समय ऐसे संस्करण की परम आवश्यकता थी। हमारी कामना है कि वल्लभीय जनों को अधिकाधिक संख्या में इस ग्रंथ का लाभ उठाना चाहिए।

इस ग्रंथ का प्रकाशन गोलोकवासी जयकृष्णदास तथा गोलोकवासी कृष्णदास दोनों बन्धुओं की स्मृति में संस्था द्वारा स्थापित "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" के प्रथम पुष्प के रूप में हो रहा है। आशा है संस्था द्वारा भविष्य में भी एतादृश उपादेय ग्रंथों का प्रकाशन होता रहेगा।

डा० गोविन्दलाल

(५)

षष्ठ पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री १०८

श्री मुरलीधरलाल जी महाराज

(गोपाल मन्दिर, वाराणसी)

॥ श्रीमुकुन्द-गोपालौ विजयतः ॥

श्रीभागवतपीयूष-समुद्रमथनक्षमः ।
तत्सारभूतरास-स्त्रीभावपूरितविग्रहः ॥

—सर्वोत्तमस्तोत्र

नाश्रितो वल्लभाधीशो नच दृष्टा सुबोधिनी ।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

—श्री हरिराय जी

श्रीमद्भागवतोक्त 'रासपञ्चाध्यायी' के पाँचो अध्याय श्रीमद्भागवत के पञ्चप्राण माने जाते हैं। उनके गूढतम रहस्यों को महान् अलौकिक बुद्धिवाद द्वारा भगवत्कृपा से ही कोई समझ सकता है।

आनन्दस्वरूप गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण की परम अन्तरंग लीला तथा निज स्वरूपभूता गोपियों और ह्लादिनी शक्ति श्री रासेश्वरी राधा के साथ होने वाली भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्याऽतिदिव्य क्रीडा का वर्णन इस 'रासपञ्चाध्यायी' में किया गया है।

'रास' शब्द का मूल अर्थ 'रस' है और रसस्वरूप भगवान् श्री कृष्ण ही हैं। 'रसो वै सः' ऐसी श्रुति भी है। तात्पर्य यह है कि—"जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों में रूपान्तर धारण करता हुआ अनन्त रसों का समास्वादन करे तथा रससमूह में प्रकट होकर स्वयमेव आस्वाद्य-आस्वादक लीला-धाम और विभिन्न लीलायुक्त आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे उसीका नाम 'रस' है। भगवान् श्रीकृष्ण की यह लीला गोलोक के दिव्य धाम में दिव्य रूप से निरन्तर हुआ करती है।

श्रुतियों (वेद की ऋचाओं) ने जब कठिन श्रमसाध्य तपश्चर्या की, तब उन्हें उस अलौकिक दिव्य लीला का रसास्वादन और भगवत्साक्षात्कार हुआ और कृष्णावतार में वे ही ऋचायें मूर्तिमन्त होकर व्रज-रमणियों के रूप में गोपियाँ बन-बन कर प्रकट हो गयीं।

वर्तमान काल में जो अभिनेता एवं अभिनेत्री या नट-नटी रासलीला का अभिनय कर लौकिक जनों का मनोरंजन करती हैं, इसकी तुलना रासलीला से कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि महान् ज्योतिरूप परमानन्दमय "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि" रसमय ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण की तथा भगवदभिन्नाङ्ग स्वरूपा कठोरतम तपश्चर्या के प्रभाव से वरदान में प्राप्त श्रुति की ऋचारूपा आह्लादिनी शक्ति श्री राधिका एवं उन गोपियों के अलौकिक आनन्दप्रद वह रासलीला है जो—"सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्" अर्थात् समस्त विषयों (कामनाओं) को छोड़ कर वासनारहित एवं संसार से परे होकर सर्वतोभावेन श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर तद्रूप हो चुकी थीं।

भगवान् श्रीकृष्ण की यह रास-लीला और उन्हीं की अंगभूता श्री (राधिका) जी जीवधारी शरीर की तरह जड़ नहीं, अपितु दिव्यरूपा हैं। जड़ की सत्ता तो भगवान् की दृष्टि में ही हुआ करती है। जहाँ प्रकृति भी चिन्मयी ही है, वहाँ जड की प्रतीति होती ही नहीं। वहां तो अचित्त (जड़) की प्रतीति केवल चिद्विलास या भगवान् की लीला के लिये ही होती है। यही कारण है कि सदा-सर्वदा जडता या स्थूलता के साम्राज्य में ही रहने वाला मस्तिष्क भगवान् की उन अप्राकृतिक लीलाओं को भी पूर्ववासनाभिभूत होकर जड प्रकृतिक रूप ही समझने लगता है। और भागवती दिव्य लीला के वास्तविक तथ्य से कोशों दूर रहने से भवसागर के नानाविध दुःखों को भोगने के लिये बाध्य होता है। अतः जिनकी यशो-गाथा अनादि काल से श्रुति, स्मृति, पुराणों में त्रिकालदर्शी महामनीषी महर्षि गाते आये हैं, वे आनन्दमय अजन्मा, सनातन, अनादिनिधन परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके समान ही दिव्यस्वरूपा श्री-राधिकारानी एवं श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा गोपियों का अन्योन्य सम्बन्ध दिव्यता की परतमा सीमा ही है।

भगवान् श्रीकृष्ण का वेणुनाद नादब्रह्म जड़ को चेतन, चेतन को जड़, विक्षिप्त को समाधिस्थ एवं समाधिस्थ को विक्षिप्त बना देता है। अत एव उन नादब्रह्मस्वरूप वंशीनाद को सुनकर गोपियाँ सब काम-धाम छोड़ देती थीं और बलात् प्रेमाकृष्ट हो अपनी-अपनी सुध-बुध खोकर श्रीकृष्ण की ओर अबाध गति से चल पड़ती थीं, जैसे शिखर से गिरती हुई गङ्गा-यमुना आदि नदियाँ साक्षात् या परम्परया (महानदियों की सहायक नदियाँ बनकर) जबतक नदी-वल्लभ समुद्र को प्राप्त नही करतीं और उनमें सर्वात्मना एकाकृति हो विलीन नहीं हो जातीं तबतक अबाध गति से आगे बढती ही रहती हैं। वैसे ही वे कृष्णमात्रपरायणा

गोपियाँ तबतक आगे बढ़ती गयीं जबतक गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण भगवान् के पास पहुँच कर तन्मय तद्रूप हो नहीं गयीं और जो कदाचित् कृष्णभगवान् के निकट नहीं पहुँच सकीं वे भी उनके स्वरूप का ध्यान करती हुई उनके विरह में मग्न हो उस स्थूल शरीर का त्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह में ही लीन हो गयीं।

इसीसे पुष्टिमार्ग में सर्वात्मभावनायुक्त श्रीविग्रह की सेवा तथा अहर्निश भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुये चिन्तन करने की आज्ञा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने दी है। भक्तिवर्द्धिनी ग्रन्थ में महाप्रभुजी ने कहा भी है—

'सेवायां वा कथायां वा यस्यः शक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥'

अर्थात् इस घोर कलिकाल में नित्य नये-नये वातावरण में अहर्निश अनेकानेक क्लेश से मुक्त होने के लिये केवल भगवच्चरण ग्रहण करते हुए श्रीमत्प्रभु के चरणकमलों का ध्यान एवं व्रजसीमन्तिनी श्री गोपीजन की क्रिया द्वारा उनके औदार्य से—"तव कथामृतं तप्तजीवनं" रूप इस जीवन के अन्तिम क्षण तक भगवत्प्रेमलक्षणा, भक्तिस्वरूपा श्री गोपीजन के चरण-पद्म की किंचित् रेणु मेरे मस्तक पर आ जाय यही मेरी अभिलाषा अहर्निश हृदय में विद्यमान रहे यही महाप्रभु से विनम्र अभ्यर्थना है।

श्रीमद्भागवतोक्त 'रासपञ्चाध्यायी' की 'सुबोधिनी' टीका श्रीमहाप्रभुवल्लभाचार्य ने भगवद्-भक्त जनसमुदाय के कल्याण एवं भगवान् के क्षणमात्र के ध्यान से चित्त की शान्ति के लिये की है। इस बात को ध्यान में रखते हुये हमारे सम्प्रदाय के सुयोग्य विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ (मुनमुन) जी चतुर्वेदी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में इसका अनुवाद किया और उसका प्रकाशन परम-वैष्णव प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी ने चौखम्बा संस्कृत सीरीज के अध्यक्ष भगवच्चरणानुरागी गोलोकवासी जयकृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री मोहनदास जी गुप्त तथा उपाध्यक्ष गोलोकवासी श्री कृष्णदास जी गुप्त के सुपुत्र श्री विट्ठलदास जी गुप्त—इन बन्धुद्वय के सहयोग से करवाया है। 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' के अन्तर्गत गोलोकवासी बन्धुद्वय के स्मारक स्वरूप "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" में सानुवाद रासपञ्चाध्यायी का प्रकाशन हुआ देखकर महान् हर्ष हो रहा है। सम्प्रदाय की सेवा में निरन्तर संलग्न चौखम्बा-परिवार के सदस्य-गण इस प्रकार के अप्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थों का भी मुद्रण व प्रकाशन कर अलभ्य ग्रन्थामृता-स्वादन सर्वजन साधारण को कराते हुए समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न सुखी एवं दीर्घायु हों यही महाप्रभु से प्रार्थना है। इति शम्।

गो. मुरलीधरलालजी.

(६)

गो० श्री १०८
श्री व्रजरत्नलाल जी महाराज
(सूरत)

॥ श्रीबालकृष्णो विजयतेतमाम् ॥

श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धस्थ 'रासपञ्चाध्यायी' की भगवल्लीला के नित्यत्व एवं अलौकिकत्व का प्रतिपादन वेद और महर्षि व्यास के ब्रह्मसूत्र में किया गया है—

ऋग्वेद की ऋचाओं में रासलीला और श्री गोकुल का वर्णन तथा अलौकिकत्व एवं नित्यत्व का प्रतिपादन सुविशद रूप से किया गया है। यथा—

(१) "ता वां वास्तूनि उष्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः। तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरीति।" (ऋग्वेदे, विष्णुसूक्तम्)

श्रुति का भाष्य—

ता = तानि, वां = युवयोः—कृष्णराधयोः, गोपीमाधवयोर्वा, वास्तूनि = स्थानानि, गमध्यै प्राप्तुम्, उष्मसि = कामयामहे। तानि कानि ? इत्याकांक्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति—यत्र = गोकुले, भूरिशृङ्गाः = दीर्घशृङ्गाः, गावः वसन्ति इति शेषः। अथवा आरण्यग्राम्यपशुलक्षणार्थम्। भूरिशृङ्गाः = रुरुप्रभृतयो मृगाः, गावश्चेत्यर्थः। अयासः = शुभाः। अत्र स्थाने—भूमौ, तल्लोक-वेदप्रसिद्धम्, उरुगायस्य = उरुकीर्तेः—भगवतः, वृष्णः = कामान् वर्षतीति वृषा, तस्य गोपिकासु काम-वर्षकस्य गोकुलं परमं = पदं—स्थानं, वैकुण्ठं, तस्मादपि अधिकं परमं पदम्। प्रकृति-कालाद्यतीतत्वेनापि वैकुण्ठाद्यपेक्षयाऽतिप्रियत्वेनापि, परमं सदृशं पदमवभाति = प्रकाशते। भूरि = बहुतरम्।

तथा च यदेतादृशं तयोः स्थानं, तत्स्थानसम्बन्धीनि वास्तूनि प्रसादनेन प्राप्तुं कामयामहे, नान्यानि, इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। भूरिशब्दस्य बाहुल्यार्थत्वेन—अनेकविधनिकुञ्जगह्वरप्रदेश-यमुनापुलिन-गोवर्धन-सान्वादिषु निरन्तरं भगवतः स्थित्या तत्तद्रूपं प्रकाशते, इति तात्पर्यार्थः।

भूधातोः अस्त्यर्थत्वे व्यामुक्तमिति वा। तथा च परमत्वेन भगवत्स्थानत्वेन च नित्यत्वं गोकुलस्य आयाति। (**विद्वन्मण्डनम्**)—

(२) किञ्च तैत्तिरीयके (१. ३. ६.) पठ्यते—"ते ते धामानि उष्मसि गमध्यै। गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरीति।"

भाष्यार्थः—ते = तव, तानि, धामानि=स्थानानि, गमध्यै = प्राप्तुं उप्यसि = कामयामहे। इति। भूरेर्बहुरूपस्य रासोत्सवादिषु तथा प्राकट्यात्।

अत्र नित्यो वेदः स्वयमवभातीति पदं स्वभावविषयस्य गोकुलस्यापि नित्यत्वमाह।

(३) एतदनन्तरं पठ्यते—"विष्णोः कर्माणि पश्यत। यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।" इति तैत्तिरीयके (१. ३. ६.) मन्त्रद्वयम्।

भाष्यार्थः—तथा च भूर्यस्मिन् मन्त्रे—"यत्र भूरिशृङ्गाः, गावः, अयासः, तदुरुगायस्य, परमं, पदम्" इत्युक्त्वा तदनन्तरम्—यजुःकर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यः व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि सांनिध्यात् विष्णुः स्पृष्टवान्। तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीषु आविर्भूय तासु सर्वाः लीलाः कृतवान्। तत्र कृतानि कर्माणि अपि विष्णोः "कर्माणि पश्यत", पूतनामुपयःपानरिंगणादीनि कर्माणि पश्यतेत्यर्थः। इति मन्त्रेण निरूप्य पुनः पूर्वोक्तं लीलास्थानं तद्विष्णोः परमं पदेनानूद्य तस्य नित्यत्वं निरूपणायाह—"सदा पश्यन्ति सूरयः" इति।

सूरयो विद्वांसः। तत्त्वं च, शब्दब्रह्म-परब्रह्मरूपवित्त्वम्। परब्रह्मज्ञानं च भक्त्यैवेति निर्णयः।

"भक्त्या मामभिजानाति" "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति वाक्यात्। तेन 'सूरि'पदेन भक्ता उच्यन्ते।

ननु काननकलिन्दगिरिवराद्यात्मकत्वेनोद्भूतरूपवन्महच्च परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यम्? न साधारणजनचक्षुर्विषयः? इत्याशंक्य तन्निरासाय दृष्टान्तमाह—"दिवीव चक्षुराततमिति"। दिवि = स्वर्गे, यथा आसमन्तात् ततं = व्याप्तं "यत्र दुःखेन संभिन्नम्" इति वाक्यात् सुखैक-साधनतद्रूपस्वर्गपदार्थम्। तत्रस्थानामेव चक्षुः पश्यति, नान्येषां तथेत्यर्थः। तेन तल्लीलामध्य-पातिनामेव चक्षुः पश्यति नान्येषामिति भावः।

(४) तैत्तिरीयश्रुतिः (१. ३. ६.)—"विष्णोः कर्माणि पश्यत" श्रुति का स्वारस्य लिखते हैं—"गोकुल में श्रीकृष्ण ने कोई लीला 'पूतनामुपयःपान, रिंगण आदि देखो। कात्यायन्यर्चनादि व्रतों का श्रीकृष्ण ने स्पर्श किया अर्थात् कुमारिकाओं में फलस्वरूप प्रवेश करके कुमारिकाओं के साथ अनेकविध लीला की। गोपीजन के साथ स्मरणरूप भगवत्कर्म देखो।"

(५) ब्रह्मसूत्र (अ० ४, ४, २७) में भगवल्लीला का अलौकिकत्व वर्णन किया गया है—"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" जगत्सम्बन्धालौकिकव्यवहारकाय-वाङ्मन का लौकिकव्यापार से रहित क्षणवद् रमण भोग इत्यादि लीला है। लीला में लौकिकत्व नहीं है। "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" यह श्रुति मुक्तिप्रकरण की है। प्रभुलीला, कालमाया से परे है। इस लिये प्राकृत जगत् दूरतर है।

भगवान् लीलाप्रकटनेच्छा से लीलाधिष्ठान योग्य मथुरादि अतिशुद्ध देश में स्थापन कर लीला करते हैं। तदपि लीलामध्यपाति भक्तों का लौकिक व्यापार की संभावना नहीं है। भगवान् स्वतन्त्र फलस्वरूप हैं।

आशावाद और आशीर्वचन

'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का हिन्दी अनुवाद महान् कार्यदक्ष गोलोकवासी भगवदीय श्री जयकृष्णदास जी एवं गोलोकवासी भगवदीय श्री कृष्णदास जी का स्मारकस्वरूप है। विद्वज्जनों को ज्ञात है कि 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' में विद्वज्जन योग्य सर्वदार्शनिक एवं सर्वजनोपयुक्त साहित्य के प्रकाशन से सनातन संस्कृत का संरक्षण हो रहा है। सम्प्रदाय सिद्धान्तमर्मज्ञ प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी की आन्तरप्रेरणा से श्री मोहनदास गुप्त एवं श्री बिट्ठलदास गुप्त ने अपने-अपने पिता के आधिदैविक स्मारक प्रकट करके रासलीलामृत का आस्वाद रसिक जनों को करवाया है।

ये बन्धुद्वय ऐसे-ऐसे पुष्टिमार्गीय उच्चतर साहित्यों का निरन्तर प्रकाशन करते रहें ऐसी शुभकामना एवं शुभाशीः है। हम इन्हें हार्दिक अभिनन्दन पूर्वक धन्यवाद देते हैं।

सम्प्रदाय के विद्वान् श्री पं० जगन्नाथ जी का यह भाषानुवाद अत्यन्त प्रशंसनीय है।

—गो० व्रजरत्नलाल

(७)

गो० श्रीमती शरदवल्लभा

बेटी जी

(वाराणसी)

गो० वा० श्रीकृष्णप्रिया बेटी जी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज के समुत्थापक गोलोकवासी बन्धुद्वय श्री जयकृष्णदास जी तथा श्री कृष्णदास जी की पुण्य-स्मृति में उनके आत्मज श्री मोहनदास तथा श्री विट्ठलदास ने 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का प्रकाशन कर वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायियों का महान् उपकार किया है। श्रीसुबोधिनीजी संस्कृत भाषा में अमूल्य ग्रंथ है और जो विषय उसमें प्रतिपादित किये गये हैं, वे भी अत्यन्त गंभीर हैं, फिर भी पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए यह अत्यावश्यक है कि वे श्रीसुबोधिनीजी का पठन-पाठन और मनन करें। श्री हरिराय महाप्रभु ने जन्मवैफल्य-निरूपण ग्रंथ में यह निर्देश किया है—

'नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले॥' —श्री हरिराय जी

'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' का सरल हिन्दी भाषा में प्रकाशन वर्तमान युग में परमावश्यक था। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ साधारण जन श्रीसुबोधिनीजी के गूढ भावों को अब भलीभाँति समझ सकेगा और लाभान्वित होगा। मुझे विश्वास है कि श्रीसुबोधिनीजी का हिन्दी भाषा में यह प्रकाशन वैष्णव जनोपयोगी सिद्ध होगा।

गोलोकवासिनी मेरी अग्रजा (**श्रीकृष्णप्रिया बेटी जी**) जो वल्लभ-दर्शन में विशेष रुचि रखती थीं, वे आज रहतीं, तो सर्वांगपूर्ण इस ग्रन्थ को देखकर बड़ी प्रसन्न होतीं। वैष्णव-समाज से मेरा यह अनुरोध है कि वह इस ग्रंथ को अपनावे और लाभ ले।

ग्रंथ-प्रकाशन में परम भगवदीय भाई मोहनदास तथा भाई बिट्ठलदास, इन दोनों उदीयमान भाइयों का परिश्रम स्तुत्य और अभिनन्दनीय है। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि अपने पूर्वजों की परम्परा के अनुसार ये दोनों भाई भी महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य विरचित बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाशन में सदैव संलग्न रहें। आपके पूर्वजों द्वारा संस्कृत साहित्य की महती सेवा हुई है, जो विश्व-प्रसिद्ध है। श्री मदनमोहन प्रभु चौखम्बा परिवार के सदस्यों को दीर्घायु प्रदान करें और सत् प्रेरणा देते रहें, जिससे वैष्णव-जगत् का बौद्धिक विकास होता रहे।

गो० श्रीवल्लभा

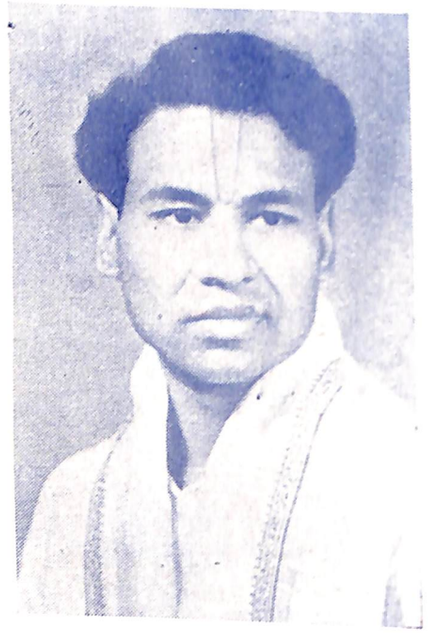

(८)

स० गृ० गोस्वामी श्री १०८

श्री रघुनाथलाल जी महाराज

(कामां, भरतपुर)

The signal Service rendered by the Publishers of Chowkhamba Sanskrit Series is too well known among Oriental Scholars to need any further comment. That a new Series called "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" is being started to perpetuate their sacred memory is a very welcome piece of news. The two brothers, श्री जयकृष्णदास गुप्त and श्री कृष्णदास गुप्त, the original publishers of Chowkhamba Sanskrit Series, were not only enterprising businessmen but were also devout Vaishnavas. And that is just why Lord Krishna, the Almighty, has willed that the very first volume of this new Series should be रासपञ्चाध्यायी which depicts his रासलीला. That this रासलीला is the highest, the best, and the purest of all his Divine Sports is very well known to all his sincere devotees. But at the same time its true significance is known only to those who are the noblest and the purest in their heart of hearts. This true significance thereof has been very ably, forcefully, and clearly shown by my Revered Guru, श्री दीक्षितजी महाराज, in his शुभाशंसा. That I whole heartedly subscribe to every word therein needs no mention. What remains for me to do is to pray to Lord Krishna, the Almighty, that signal success may attend this new venture, i. e. this new series may prosper and continuously serve the cause of Oriental studies. Further, I must congratulate all the persons that have contributed to the publication of this first volume : (1) श्री मोहनदास गुप्त एवं श्री चिट्टलदास गुप्त, who have shown their loving devotion to their father and their uncle by starting this new series and publishing this First Volume; (2) पं० श्री जगन्नाथ चतुर्वेदी of मथुरा, the learned author of the Hindi Commentary, and (3) श्री राधेश्यामजी रस्तोगी and श्री व्रजगोपालजी who have kindly contributed a Foreword.

Raghu Nath Sharma

शुभाकाङ्क्षा

महामहिमोपाध्याय

पण्डितराज श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविड

॥ श्रीगुरुः शरणम् ॥

'विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥'

श्रीमद्भागवत की इस फलश्रुति के अनुसार सभी सम्प्रदायों के लिये 'रासपञ्चाध्यायी' बड़ा महत्त्व रखती है। इसका प्रकृत पक्ष में पूरा विश्लेषण कर महाप्रभु गोस्वामी श्रीवल्लभाचार्य ने महान् उपकार किया है, उसके बाद भी तत्सम्प्रदायानुयायी टीकाकारों ने विचार प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है, पर इससे समस्त भक्तों को 'रासपञ्चाध्यायी' का भाव समझना कठिन हो रहा था। वह त्रुटि मथुरावासी श्री जगन जी चतुर्वेदी ने हिन्दी भाषा में 'सुबोधिनी' व्याख्या का अनुवाद कर दूर कर दी है।

'सुबोधिनी' की यह विशेषता है कि, 'श्रीकृष्णो दोषी, परदारगमनवत्त्वात्' इस कुतर्क के खण्डन में 'मिथ्याज्ञानजन्यवासनावत्त्वमुपाधिः' ऐसा नैयायिकों की भाषा में कह कर उक्त दोष को दूर किया है। भगवन्निष्ठ को ही भक्ति प्राप्त हो सकती है, चित्त की अस्थिरता को दूर करने में शृंगार रस के बिना दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये शृङ्गार का वर्णन भागवत में किया गया है। यह बात अद्वैत मत के अनुयायी श्रीमधुसूदनसरस्वती जी के निम्नलिखित पद्य से प्राप्त होती है :—

'शृङ्गारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः ।
तीव्रतीव्रतरत्वं हि रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते ॥'

इस रस की आराधना में भगवान् उसकी अधिदेवता होने के कारण प्रकट होते है, इसीलिये उनका रंग श्याम माना गया है, सूक्ष्मता से समझने का विषय यहां पर यह है कि काम का पराजय अन्य उपायों से नहीं हो सकता, वह 'रासपञ्चाध्यायी' से होता है, उसका चिन्तन करने वालों को भी वह प्राप्त होता है यह अद्भुत बात हैं।

श्रीमद्भागवत के ११ वें स्कन्ध में :—

'वेद दुःखात्मकान् भावान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ॥'
'यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तः भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥'

कह कर भगवान् ने संसार में विलष्ट लोगों के लिये भक्ति योग ही साधन बतलाया है, जो कि रासपञ्चाध्यायी से प्राप्त होता है। इसके सिवाय अद्वैत मत में कठोर चित्र वालों के लिये भी ज्ञानमार्ग का अधिकार बतलाया गया है जैसे सनक सनन्दन प्रभृति उसके उदाहरण हैं। 'नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः' कह कर उनका निर्वाचन हुआ है, तथापि भक्तिमार्ग से भी लोग अपना उद्धार कर सकते हैं :—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हि सः॥'

ऐसा कहा है। मधुसूदन सरस्वतीजी ने भली भाँति इसका निरूपण किया है। इसलिये यह प्रसङ्ग अत्यन्त आदरणीय एवं प्रशंसनीय है। ऐसे लोकोपकारी ग्रन्थ का प्रकाशन करना आवश्यक था। वह कार्य बाबू जयकृष्णदास के सुपुत्र मोहनदास जी एवं बाबू कृष्णदास के सुपुत्र बिट्ठलदास जी ने अपने-अपने पिता के स्मारक-स्वरूप 'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला' में इस 'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी' नामक ग्रन्थ को प्रथम पुष्प रूप में प्रकाशित कर पूर्ण किया है, यह स्तुत्य है।

पिता के कार्य आगे पुत्र चलाते रहें, ऐसा समझकर पिता पुत्र को छोड़कर जाते हैं। पुत्र भी वह कार्य अपना समझकर चलाते हैं, इससे बढ़कर और आनन्द की बात क्या होगी? जैसे दोनों बन्धुओं के पिता भक्ति एवं विद्वानों के आदर में रत थे, वैसे उनके ये यथाक्रम दोनों पुत्र वही कार्य चला रहे हैं, इसको देखकर हमलोगों को आनन्द हो रहा है। भगवान् इन दोनों पितृभक्त पुत्रों को मङ्गल करते हुए चिरायु करें, ऐसी भगवान् के चरणों में विनम्र प्रार्थना करता हूँ। इति—

—श्री राजेश्वरशास्त्री द्राविडः

हर्षोद्गार

श्रीमन्माननीय महेशप्रसाद जी,

आई० ए० एस०

कलेक्टर एवं जिला मजिस्ट्रेट, वाराणसी

'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' के संचालक न केवल इस प्रदेश में अपितु सारे भारतवर्ष में संस्कृत पुस्तकों के प्रमुख प्रकाशक हैं। शुद्ध पाठ और टीका, व्याख्या आदि के साथ अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन करके इन्होंने देववाणी की प्रशंसनीय सेवा की है। अब इन्होंने *'जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थ-माला'* के नाम से एक नयी ग्रन्थमाला चालू की है। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित प्रथम ग्रन्थ *'रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी'* को देखने का अवसर मिला। मैं इस ग्रन्थ एवं ग्रन्थमाला की सफलता की कामना करता हूँ और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि चौखम्बा संस्थान के संचालक इसी प्रकार से संस्कृत वाङ्मय की सेवा करते रहें।

—महेश प्रसाद

बन्धुद्वय का स्मारक

जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

(संक्षिप्त परिचय)

गो० वा० श्री जयकृष्णदास गुप्त

गो० वा० श्री कृष्णदास गुप्त

श्री हरिदास जी गुप्त ने विक्रम संवत् १९४८ (ई० सन् १८९२) में गवर्नमेण्ट पंजीकृत "चौखम्बा संस्कृत सीरीज" की स्थापना की। उस समय काशी पण्डित-समाज के वरिष्ठ विद्वान— म० म० श्री लक्ष्मणशास्त्री जी, म० म० श्री गोपीनाथ कविराज जी, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गोस्वामी श्री दामोदरलाल जी प्रभृति महामनिषियों के तत्त्वावधान में कार्यारम्भ हुआ था। चौखम्बा मुहल्ला के निकट इस संस्था की स्थापना होने के कारण ही मुहल्ले के नाम पर इस संस्कृत सीरीज का नाम "चौखम्बा संस्कृत सीरीज" रखा गया। इस सीरीज की विशेष विशेषता यह रही है कि इसमें संस्कृत के अमुद्रित ग्रन्थ ही प्रकाशित होगें। आज भी वही परम्परा चली आ रही है।

दैवगति विचित्र है। "चौखम्बा संस्कृत सीरीज" का भास्कर उदित हो ही रहा था कि लगभग ४५ वर्ष की अल्पायु में ही श्री हरिदास जी गुप्त का असमय में गोलोकवास हो गया।

**** **** ****

श्री जयकृष्णदास जी गुप्त एवं श्री कृष्णदास जी गुप्त श्री हरिदास जी गुप्त के क्रमशः बड़े एवं सबसे छोटे पुत्र थे।

श्री जयकृष्णदास जी गुप्त :—आपका जन्म काशी में दिनांक २२-११-१८९२ ई० को हुआ था। जिस समय श्री हरिदास जी का गोलोकवास हुआ उस समय आप की उम्र मात्र १४ वर्ष की थी। इतने अल्पवयस्क होते हुए भी आप इस वज्रपात से विचलित नहीं हुए और अपने पिता के स्वप्न को साकार बनाने के अटल व्रती बन बैठे।

उस समय अंग्रेजी राज में संस्कृत भाषा मृतभाषा कही जा रही थी। संस्कृत की पाण्डुलिपियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थीं। उनको संग्रह करने में श्री जयकृष्णदास जी को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता था, परन्तु वे अपनी लगन से विमुख नहीं हुए। अल्प समय में ही उन्होंने 'सीरीज' में वीरमित्रोदयादि शताधिक अप्राप्य ग्रन्थों का प्रकाशन कर दिया और अपने पूज्य पिता की स्मृति में "हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला" की भी स्थापना कर दी। जिसमें आज शताधिक ग्रन्थ-रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं।

श्री कृष्णदास जी गुप्त :—आपका भी जन्म काशी में दिनांक २६-११-१९०४ ई० को हुआ था। आप अपने बड़े भाई श्री जयकृष्णदास जी के सहयोग के लिए अपनी सोलह वर्ष की अवस्था में ही 'चौखम्बा' प्रकाशन आदि का कार्य देखने सुनने लगे। अपने बड़े भाई की तरह आप भी अपनी लगन के बड़े ही पक्के, धीर एवं परिश्रमी थे। चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थमालाओं में आप भी संस्कृत के ग्रन्थों को चुन-चुन कर प्रकाशित करने लगे। आपके द्वारा संस्थापित "चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस" की प्रधान शाखा—"चौखम्बा विद्याभवन" के विभिन्न ग्रन्थमालाओं में आज शताधिक ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित होकर राष्ट्र की अमूल्य निधि बने हुए हैं।

उक्त दोनों भाई बड़े ही धार्मिक विचार के थे। वैष्णवों की तन-मन-धन से सेवा करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। नित्य प्रति दोनों भाई अपने मन्दिर में स्नान कर श्री ठाकुर जी की घंटों सेवा करते रहते थे।

कार्यालय के कठोर परिश्रम के कारण कहिए अथवा विधि के विधान के अनुसार—ई० सन् १९६६ से श्री कृष्णदास जी का स्वास्थ्य गिरने लगा। स्वास्थ्य-लाभ के लिए यहाँ से बम्बई

तक बहुत ही प्रयत्न किया गया। परन्तु विधि के विधान के आगे किसी का क्या वश—दुःख है कि दिनांक ८-६-१९६७ ई० को वे श्री प्रभु-चरणारवृन्द में सदा-सर्वदा के लिए विलीन हो गये।

श्री जयकृष्णदास जी का अपने सबसे छोटे भाई श्री कृष्णदासजी पर अत्यधिक स्नेह था। प्यार में आप उन्हें 'बुआ' कह कर पुकारते थे। जिस समय आपने अपने प्राण-प्रिय प्यारे 'बुआ' के गोलोकवास का समाचार सुना, उसी क्षण से आप करीब ५-६ दिनों तक लगातार अपनी सुध-बुध ही खो बैठे, यहाँ तक कि सूतक में रहने पर भी नित्य की भाँति आप मन्दिर में स्नान कर श्री ठाकुरजी की सेवा करने के लिए जिद करने लगे। याने उन्हें विश्वास ही नहीं होता था कि 'बुआ' अब इस संसार में नहीं रहा। बड़ी ही कठिनता से समझा-बुझा कर उन्हें मन्दिर में स्नान करने से रोका गया।

५-६ दिनों बाद जब श्री जयकृष्णदास जी कुछ स्वस्थ हुए तो उन्हें यह कटु सत्य स्वीकार करना ही पड़ा कि "अब इस संसार में हमारा प्यारा 'बुआ' नहीं रहा।" परन्तु इस मर्मान्तक पीड़ा से श्री जयकृष्णदास जी को इतना अधिक सदमा पहुँचा कि वे जीवन के अन्तिम दिनों में अपना घर-बार छोड़ कर अपने प्यारे 'बुआ' द्वारा लगाए गए 'सन्दहा' ग्रामस्थ (आशापुर चौमुहानी से २ मील दूर गाजीपुर सड़क पर स्थित) "चौखम्बा उपवन" में चले गए एवं वहाँ मौनव्रत के अटल व्रती बन बैठे।

अपने प्रिय छोटे भाई 'बुआ' के विछोहजन्य दारुण पीड़ा के कारण वहाँ उनका स्वास्थ्य अनेक उपचार करने के बाद भी बराबर गिरता ही गया और अन्तमें दिनांक १३-८-१९६७ ई० को शहर के अपने निवासस्थान में आप भी श्री प्रभु-चरणारवृन्द में सदा-सर्वदा के लिए विलीन हो गये।

उपर्युक्त ऐसे दोनों भाई (जो जीवन-पर्यन्त तन-मन-धन से संस्कृत साहित्य की रक्षा एवं सेवा में लगे रहे) की पुण्य-स्मृति में इस "जयकृष्णदास-कृष्णदास प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला" की स्थापना की जा रही है। हर्ष का विषय है कि ये दोनों भाई जिस धर्म के मानने वाले थे, उसी धर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ-रत्न "रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी" हिन्दी व्याख्या सहित इस ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्परूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ-रत्न एवं ग्रन्थमाला पर प्राप्त शुभाशंसा एवं आशीर्वचन के लिए हम श्रद्धेय पूज्य श्री दीक्षित जी महाराज एवं शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के पीठाधीश्वरों (श्री वल्लभकुल के पीठों के पूज्य महाराजश्री) के विशेष रूप से अनुगृहीत हैं। इससे हमें 'भारतीय संस्कृति' के अनमोल ग्रन्थों के प्रकाशन में बल एवं उत्साह प्राप्त होगा।

प्रो० श्री राधेश्याम जी रस्तोगी को भी बहुत-बहुत धन्यवाद है जिनकी प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा गया और आज सर्वाङ्गपूर्ण होकर प्रस्तुत है।

हिन्दी व्याख्याकार श्री पंडित जगन्नाथ (मुनमुन जी) चतुर्वेदी को भी बहुत-बहुत धन्यवाद है जिन्होंने इस ग्रन्थ की इतनी सरल, सुबोध हिन्दी में सुविस्तृत व्याख्या की है।

काशी के महामहिमोपाध्याय, पंडितराज श्री राजेश्वरशास्त्री जी द्राविड एवं काशी के जिलाधीश श्री महेशप्रसाद जी के भी हम अतिशय आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ पर दो शब्द लिखकर इस संस्करण का महत्त्व बढ़ाया है।

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥"

काशी,
श्री आगम उत्सव
मिति अगहन वदी ७,
वि० सं० २०२८

विनीत
प्रकाशक

भूमिका

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः ॥

निबन्धशा० प्र० श्लो० १।

श्रुति-स्मृत्यादि शास्त्रों में वर्णन किया गया है कि सर्वलोकों एवं प्रकृति से परे केवलानुभवानंदमात्र अक्षर, गोलोक, व्यापिवैकुण्ठ, धाम, इत्यादि नामों से प्रसिद्ध आनन्दरूप है। जिसके मध्यपाति वृन्दावन नाम वन कामदुघ वृक्षों द्वारा मनोरम निकुञ्जों से युक्त सर्व ऋतुओं में सुखकारी, जहाँ श्री गोवर्द्धन नामक गिरि सुन्दर झरना-गुफायुक्त सर्व ऋतुओं में सुखकारी रत्नधातुमय शोभावान् मयूर-पिक-शुकादि पक्षिगणों से संकुल, जहाँ निर्मल जल वाली श्री कालिन्दी नदियों में श्रेष्ठ जिसके दोनों तट रत्नों से बद्ध हुए, हंस-पद्मादि संकुल, जहाँ नाना रासरसोन्मत्त गोपियों के समूहों के मध्य में स्थित किशोराकृति अच्युत भगवान् रसात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम नित्यलीला करते हैं। इन्हीं भगवान् की जब जगत् के उद्धार करने की इच्छा होती है, तब किसी शापादि के बहाने से, अथवा भक्तों का उत्कटभाव जानकर उनको भावानुसार वरदान देकर इस लोक में भी अपने धर्मरूप परिकर सहित अग्निवत् प्रकट हो स्वयं अंशीपूर्ण आप्तकाम होते हुए भी नामरूपभेद से क्रीड़ा करते हैं। यद्यपि भगवान् ने मनुष्य का रूप धारण किया है, तथापि मनुष्य नहीं हैं। किन्तु भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी तथा आप्तकाम हैं। इस लिए किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। परन्तु भक्तवत्सल होने के कारण भक्तों के उद्धार के लिये आप सतत प्रयत्नशील हैं। भगवान् की लीलाओं को मनुष्यलीला की तरह अवलोकन करना योग्य नहीं, भगवान् निर्दोष, पूर्ण गुणवान् हैं, इनकी समस्त लीला भी निर्दोष, पूर्ण गुणयुक्त है। इस विचारदृष्टि से प्रत्येक स्त्री-पुरुष का कर्तव्य है कि वे भगवान् की लीलाओं में लौकिक दृष्टि से विषमबुद्धि न करके बड़े-बड़े आचार्य महान् विद्वानों द्वारा किये विमर्श-विचार पर ध्यान देकर यथार्थता ग्रहण करें। सारस्वतकल्प में जब ब्रह्मा बारह दिन का था, तब निजधामरूपा यह चौरासी कोश की व्रजभूमि भी आई थी। उसी समय से गोलोक की तरह यहाँ भी सब लीलायें नित्य हो रही हैं।

नित्य लीलावर्णन—

ऋग्वेदोक्त विष्णुसूक्त द्वितीयाष्टक चौबीसवें वर्ग में कहा है कि—'तावां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः, अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।'

अर्थ—वे कृष्णराम, अथवा गोपी-माधव के जो मथुरा, गोकुल, वृन्दावनादि लीलास्थान हैं, उनकी प्राप्ति करने की इच्छा मैं करता हूँ। वे किस प्रकार के स्थान हैं? जहां बड़ी-बड़ी सींगोंवाली शुभ्र गायें बसती हैं। इस भूमि में लोकवेदप्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण गोपिकाओं को कामवृष्टि करनेवाले का मथुरा-गोकुलादि परमपद स्थान वैकुण्ठ, उससे भी अधिक परमपद प्रकृति-कालादि से अतीत वैकुण्ठादि की अपेक्षा से भी अतिप्रिय बहुत प्रकाश कर रहा है। अर्थात् कृष्ण-राम अथवा गोपी-माधव का स्थान एवं उसके संबंधी, मथुरा, गोकुल-वृन्दावनादि लीलास्थलों को प्रसादरूप से पाने की अभिलाषा करता हूँ यह वाक्यार्थ हुआ। इसी प्रकार का मंत्र तैत्तिरीय संहिता (१-३-६)

में भी है। 'ते ते धामान्युश्मसि गमध्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः' इसका अर्थ प्रायः पहले मंत्र की तरह है। विशेष इसमें भूरेः पद विष्णोः, पद का विशेषण कहा है। अतः इसका अर्थ रासोत्सवमें भूरेः, अनेक रूप धारण करने वाले विष्णो व्यापक भगवान् का परमपद प्रकाश कर रहा है।

यहां वर्तमान क्रिया नित्यता सूचन कर रही है। इसके अनन्तर—'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे, इन्द्रस्य युज्यः सखा, तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षु रातततम्'। तैत्ति.सं.(१-३-६)। पूर्व मन्त्र में श्रीगोकुल की नित्यता का निरूपण किया, अतः उस गोकुल में भगवान् के लिये यशोदा स्तनपान, पूतना पयःपान, घुटुरुवन चलना आदि कर्मों को देखो। जिन कर्मों के हेतु कात्यायनी अर्चनादि व्रत, भगवान् का स्पर्श करते हुये अर्थात् व्रत के फल से व्रत करनेवाली गोपिकाओं में प्रकट हो सर्वलीला करते हुए। यहां 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' इस धातु का प्रयोग किया है अतः दो अर्थ होते हैं। दूसरा अर्थ—उक्त भगवत्कर्म लोकमर्यादा व्रत, पातिव्रत्यादिकों का बाध करते हुये अथवा भगवद्व्रत आत्माराम तथा पूर्णकामत्व आदि जो नियम रूप है, उसका बाध किया। इस अर्थ में 'अव्रतानि पृष्टवान्।' ऐसा भी अर्थ होता है। अतः गोपियों के साथ रमणरूप कर्मों को देखो, यह उपदेश है।

उक्त श्रुतियों द्वारा भगवल्लीला, स्थान, कर्मों का नित्यत्व प्रतिपादन किया है। आगे 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन्द्र का योग्य, अनुकूल सखा है। इन्द्र के द्रोह करने पर भी उसका मद, दोष दूर किया, किन्तु अधिकार नहीं छीना। तदनन्तर इन्द्राभिषेक गोविन्द नाम आदि समान धर्मों द्वारा सखा हुए। अथवा कर्मों द्वारा इन्द्रव्रत यागादि को बाधित किया, उन्हें देखो। अथवा—'इन्द्रस्य युज्यः सखा गोपिकाएँ बिजली रूप हैं, भगवान् नीलमेघ-श्याम हैं, इसलिये गोपिकाओं के योगार्ह समान शीलव्यसनवान् सखा हैं। आगे उस विष्णु के परमपद को भक्त सदा देखते हैं। यदि कहो कि वन, कालिन्दी, गिरि-गह्वर आदि उद्भूतरूप महान् परमपद को एक भक्त ही कैसे देखते हैं, अन्य साधारण जन क्यों नहीं देखते? इसके उत्तर में 'दिवीव चक्षुराततम्' यह कहा है। जिस प्रकार स्वर्ग में सर्वत्र व्याप्तसुख सुखकारक पदार्थ का दर्शन स्वर्ग में रहनेवालों के चक्षुओं को होता है, जिस प्रकार पृथिवीस्थित योगीजन स्वर्गस्थ पदार्थों को देखते हैं। उसी प्रकार भक्तजन भगवल्लीलापाति भूमिस्थ, भगवान् एवं उनके स्थानों को देखते हैं। साधारण जन को दृश्य नहीं है। जिस प्रकार इन्द्रियरूप से एक होता हुआ भी श्रोत्र को रूप ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता चक्षुओं को ही होता है। यद्यपि कामलादि (पीलिया) दोष से दूषित भी चक्षु वस्तु ग्रहण करता है, तथापि जैसे पीलिया के रोग से दूषित चक्षु शंख को तो देखता है किन्तु उसके श्वेत रूप को नहीं देख सकता। जिस प्रकार योगियों को ही दूर अथवा व्यवहित पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार मथुरा, व्रजमण्डल का स्वरूप एवं वहां नित्यलीला परिकरसहित विराजमान आनन्दमात्र कर, पाद, मुखोदरादि भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप तदनुग्रहपात्र अविद्यादि दोषरहित भक्तजन ही जान सकते हैं।

'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत् परमं पदम्'। (ऋग्वेद १–२२–२१)। इस मंत्र का सारांश यह है कि बुद्धिमान्, अच्छी रीति से भगवान् की सेवा करनेवाला शब्द तथा अर्थ में प्रमादरहित, जाग्रत रहनेवाला जीव भगवान् के परम पद को अच्छी तरह दीप्त अथवा प्रकाशित करता है। इसीसे श्रीमद्भागवत में 'शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः, त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्' (१–८। ३६१)। जो मनुष्य आपके चरित्र को बारंबार श्रवण, मनन, उपदेश एवं स्मरण करते हैं तथा

भीतर में आनन्द पाते हैं, संसार-प्रवाह को शान्त करनेवाले आपके चरणारविन्द का थोड़े समय में ही दर्शन करते हैं। अर्थात् भगवान् के परमपद का भक्त स्तोत्र आदि द्वारा प्रकाशन करते हैं। उक्त वाक्य से सिद्ध होता है कि वन, पशु, पक्षी गोपादि युक्त भगवान् का परमपद तथा इसके सम्बन्ध वाली भगवान् की सर्वलीलायें नित्य हैं। इस विचार को विद्वत्मण्डल में श्री गो० विट्ठलनाथ जी ने बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है। यह चौरासी कोश भूमि श्रुति-पुराणादिकों के वाक्यानुसार सृष्टि और प्रलय की व्यवस्था से बाहर है। स्कन्दपुराण में व्रज शब्द की व्युपत्ति इस प्रकार है—

'व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते।
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते॥
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।
तस्मिन् नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः॥
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते।
आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ॥
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः।
कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्यं सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥

उक्त श्लोकों में व्रज को व्यापक कहा है और गुणातीत परंब्रह्मव्यापक व्रज है तथा सदानन्द परंज्योति मुक्तों का अविनाशी स्थान है। इसमें सदानन्दाङ्गविग्रह नंदात्मज कृष्ण आत्माराम आप्तकाम का प्रेमवालों को अनुभव होता है। सदानन्द कृष्ण की आत्मा राधिका है, उसके साथ रमण करने से गूढ़ जाननेवाले प्राज्ञ लोग इसको आत्माराम कहते हैं। इसके वांछित काम गौएँ तथा गोप-गोपिकाएँ हैं। ये सब नित्य हैं तथा इनके साथ विहारादि नित्य हैं, अतः यह आप्तकाम है। इत्यादि कथन से भी पूर्वोक्त ही प्रमाणित होता है। व्रज शब्द के और भी अर्थ हैं। 'व्रजन्ति श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थं जना यस्मिन्'। अर्थात् श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये जिसमें जन जाते हैं वह व्रज है। गायों के खिरक आदि में भी व्रज शब्द का प्रयोग होता है। विष्णुरहस्य में मथुरा हृदय, नासिका मधुवन, स्तनद्वय ताल और कुमुदवन, भाल वृन्दावन, बाहु बहुलावन तथा महावन, पादपद्म कोकिला तथा भांडीरवन, स्कन्ध खिदर तथा भद्रवन को कहा है। अन्यत्र शरीर ही व्रज-भूमि, इन्द्रियां गो, निर्लिप्त आत्मा गोपाल, जीव गोप और जीव की वृत्तियां ही गोपवधूटी के रूप में कही गयी हैं। वे इन्द्रियरूप गौएँ सर्वदा अमृतमय दूध, आत्मारूप गोपाल को अर्पण करती रहती हैं। कहीं पर देवकी ब्रह्मपुत्री, वेद वसुदेव, वेदार्थ श्रीकृष्ण भगवान्, ऋचाएँ गोपी और गायें, नन्दनवन श्रीगोकुल, काम-क्रोधादि इन्द्रिय विकार दैत्य, मन की अनेक वृत्तियां अनेक असुर कहे हैं। कृष्णोपनिषद् में व्रज के वन भक्ति और इनमें नाना भांति से की गई अलौकिक लीलाएँ ही वेदों की शाखा-प्रशाखा हैं। इस प्रकार सर्व भगवत्स्वरूपात्मक है। मत्स्यपुराण में—'व्रजमंडलभूगोलं शेषनागफणं वरम्। कुमुदाख्यं महाश्रेष्ठं सर्वेषां मध्यसंस्थितम्॥ तस्योपरि स्थितं लोकं सर्वस्थानमहाफलम्। कृष्णलीलाविहारार्थमुच्चस्थानं विराजितम्॥ चतुरशीतिक्रोशेन परिपूर्णं विराजितम्।' इत्यादि। 'वृक्षे वृक्षे वेणुधारी पत्रे पत्रे चतुर्भुजः' यहां एक-एक वृक्ष में वेणुधारी भगवान् और पत्र-पत्र में चतुर्भुज विराजमान हैं। इस प्रकार चौरासी कोश की भूमि भगवत्क्रीडा-स्थली है। इसमें परमकाष्ठापन्नवस्तु 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥ 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।' 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।' इत्यादि प्रमाणों से प्रमाणित इस भूमि में साकारानन्दस्वरूप सदा क्रीडा करता है।

शंका–आप इस पृथिवी तथा पृथिवी में स्थित श्रीगोकुल आदि स्थलों को नित्य बताते हैं। किन्तु जब पृथिवी को दैत्य अवान्तर प्रलय में रसातल को ले जाते हैं और डूब जाती है, एवं महाप्रलय में पृथिवी का नाश हो जाता है, तब गिरि-कानन यमुना पुलिन, पशु, पक्षी, मनुज, गोकुल आदि का भी नाश हो जाता होगा। फिर भूमि की नित्यता कैसे रही ? इसका उत्तर छान्दोग्य श्रुति ८।१।१। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरपुण्डरीकं वेश्म' इस ब्रह्मपुर में जो यह दहर पुण्डरीक वेश्म है। इत्यादि प्रश्न के अनन्तर 'नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः'। यह ब्रह्मपुर बुढ़ापे से अनन्त वर्षों में भी जीर्ण नहीं होता, मारने से मरता नहीं, यह ब्रह्मपुर सत्य है। इस श्रुति में ब्रह्मपुर शब्द का अर्थ–ब्रह्म–भगवान् का पुर-लीलास्थान श्रीगोकुल-मथुरादि कहा गया है। पुर शब्द का अर्थ शरीर नहीं है, शरीर अर्थ मानने पर 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्'—इस वाक्य से विरोध होता है। अतएव भक्तों के सर्वकामोपभोगवस्तु ब्रह्मपुर में सम्यक् प्रकार से निहित है। इस श्रुति-प्रमाण से तथा व्यासजी ने 'दहर उत्तरेभ्यः'। इस अधिकरण में दहरशब्द का वाच्यार्थ भगवान् हैं, ऐसा निर्णय किया है। इसलिये भगवत्स्थान भी भगवद्धर्मवान् होते हैं, तभी तो इनमें भगवान् के विराजने की योग्यता होती है। ये स्थान कालादिकों के अधीन अथवा इनके आश्रय नहीं होते। इसीसे भगवान् ने कहा है कि 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्'। जिन्होंने मेरे लिये लोक-धर्म छोड़ दिये मैं उनको धारण पोषण करता हूँ। अतः भगवान् लीलास्थ पदार्थस्वरूप से अलौकिक हैं, किन्तु लौकिकस्वरूप दीखते हैं,। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इस न्याय से। अतः सिद्ध हुआ कि भगवान् की लीलाभूमि श्री गोकुल आदि का प्रलयादिकाल में भी नाश नहीं होता। यह भूमि एवं यहां के रहनेवाले भगवान् के अतिप्रियता के भाजन होते हैं। अपनी जन्मभूमि चाहे कहीं भी क्यों न हो, किन्तु उसके प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है। भगवान् की भी यह जन्मभूमि, इनको प्रिय होने के कारण यहाँ सदा निवास आप करते हैं।

उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त ने भी 'व्रजसीमन्तिनियों की चरणरेणु मेरे ऊपर पड़ने से मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा' इस कामना से लता-वल्लीरूप होने की अभिलाषा को और लतारूप होकर इस भूमि में विराजमान हैं। बृहद्वामनपुराण उत्तरस्थान खिल्य में भृग्वादि ऋषियों से ब्रह्माजी ने कहा—मैंने नन्दगोप की व्रजस्त्रियों की चरणरेणु प्राप्त्यर्थ साठ हजार वष तप किया, तब भी मुझे उनकी चरणरेणु प्राप्त नहीं हुई, इसको सुनकर भृगु ने ब्रह्माजी से कहा—आप सरीखे तो वैष्णवों की रज ग्रहण करते हैं, अतः लोक में नारदादिक वैष्णव बहुत से हैं, उनको छोड़कर गोपियों की पदरज को ग्रहण करने की चाहना आप क्यों करते हैं ? इसमें मुझे संदेह होता है। आप इसे निवृत्त करें। भृगु की इस बातको सुनकर ब्रह्माजी ने कहा 'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल। नाहं शिवः शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित्।।' बेटा ! व्रज सुन्दरियां प्राकृत स्त्री नहीं हैं। किन्तु ये श्रुतियाँ हैं, इनके समान मैं ब्रह्मा, शिव, शेष और लक्ष्मी कभी भी नहीं हो सकते, प्राकृत प्रलय होने पर जब व्यक्त अव्यक्त में प्राप्त हो जाता है, उस वक्त चिन्मात्र काल माया से परे अक्षरशेष रह जाता है। तब ब्रह्मानन्दमय लोकव्यापि वैकुण्ठ जिसका नाम है, वह निर्गुण अनाद्यनन्त केवल अक्षर में रहता है। यह अक्षरब्रह्म परम वेदों का उत्तम स्थान है, इस लोक का वासी जो परात्पर वहां स्थित है, उसकी वेदों ने बहुत काल तक स्तुति की तब प्रसन्न हो परोक्ष वाणी द्वारा आप बोले–हे प्राज्ञो ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ। जो तुम्हारे मन में हो वह वरदान माँगो। उस समय श्रुतियां बोली, हे अच्युत! आपके, नारायणादि रूप तो हमने जान लिये वे सब सगुण ब्रह्म हैं। इनमें हमारी वस्तुबुद्धि (निर्गुणत्व बुद्धि) नहीं है। जिसको हम ब्रह्म कहती हैं और जो रूप निर्गुण पर, वाणी-मन के गोचर

सगुण से अतीत है, उसे हम नहीं जानतीं जिसे पुरावेत्ता आनन्द मात्र कहते हैं। यदि आप हमको वरदान देते हैं तो उस स्वरूप का दर्शन कराइये।

इस प्रकार श्रुतियों की दर्शनेच्छा को जानकर भगवान् ने प्रकृति से परे केवल अनुभवानन्द मात्र अक्षरमध्यपाति, अपने लोक का जिसमें वृन्दावन नाम वन कामदुघ वृक्षों द्वारा मनोरम निकुञ्जों से युक्त, सर्व ऋतुओं में सुखकारी जहाँ श्रीगोवर्द्धन नाम गिरि, जिसमें सुन्दर झरना, गुफा, रत्नधातुमय शोभावान् मोर, कोकिल, तोता आदि पक्षियों से संकुल जहां निर्मल जलवाली कालिन्दी नदियों में श्रेष्ठ रत्नों से दोनों तट बद्ध हुए, हंस-पद्मादि से संकुल जहां नाना प्रकार के रासरसोन्मत्त गोपियों के समूह, इनके मध्य में स्थित किशोराकृति अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण हैं, दर्शन कराया।

इस प्रकार दर्शन कराके आप बोले—देख लिया मेरा लोक। इससे श्रेष्ठ अन्य नहीं है। कहो अब क्या करूँ? तब श्रुतियां बोलीं—'आपके कोटिकंदर्प लावण्य स्वरूप का दर्शन करके हमारे मन में कामिनीभाव उत्पन्न हो गया और गोपियों की तरह रमण करने की इच्छा प्राप्त हुई है। यह सुनकर आपने कहा, यद्यपि तुम्हारा यह मनोरथ दुर्लभ एवं दुर्घट है, तथापि मेरे द्वारा अनुमोदित सत्य होने के योग्य है। अतः 'आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्टचर्थमुद्यते। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ, पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले। वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डले।। जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्। मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ।।' अर्थात् इस समय ग्यारहवां ब्यानकल्प है, आगामी बारहवें सारस्वतकल्प में भारतवर्ष में मेरा क्षेत्र माथुरमण्डल वृन्दावन में तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा–अर्थात् मेरा वहां प्राकट्य होगा, और तुम रासमण्डल में मेरी प्यारी होगी। इस प्रकार आज्ञा पाकर श्रुतियां कल्पपर्यन्त भगवच्चिन्तन करती रहीं, अनन्तर उक्त समय में व्रज में गोपियां हुईं। उक्त प्रकरण में श्रुतियों ने सर्ववेदान्त प्रत्यय गुणातीत वाङ्मनोगोचरातीत आनन्दैक रूप आपके स्वरूप देखने की प्रार्थना की, और भगवान् ने प्रकृति से परे अपना लोक और उसमें स्थित स्वस्वरूप एवं वहां क्रियमाण लीला का दर्शन कराया। इससे स्पष्ट होता है कि वृन्दावनाद्युक्त सामग्रीविशिष्ट सदा भगवान् का रूप है, केवल नहीं। क्योंकि यह वस्तु ही ऐसी है, इसमें शंका को अवकाश ही नहीं है। इसीसे गोपालतापनीय श्रुति में 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु आभिर्भिन्नो न वै प्रभुः। भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्' तैत्तिरीय श्रुति में 'यदक्षरे परमे प्रजाः' प्रभु से भिन्न गोपियां नहीं और प्रभु गोपियों से भिन्न नहीं, यह सब वैकुण्ठ पृथिवी में उतारा गया है। ब्रह्मधर्म ब्रह्म से भिन्न भी है, और अभिन्न भी है। व्यासजी ने भी 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' इस सूत्र में विचार किया है कि जिस प्रकार प्रकाशाश्रय सूर्यादिक प्रकाश से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं, उसी प्रकार ब्रह्मधर्मों को भी भिन्न-भिन्न मानकर स्वगतभेद वृक्ष-फलादिवत् स्वीकार किया है। अतः वृन्दावन आदि एवं यहां के सर्व वृक्ष, लता, फलादि लीलासंबंधी सर्ववस्तु भगवद्धर्म रूप होने से नित्य हैं।

मथुरा-द्वारकादि एवं वहां के रहनेवाले तथा लीलास्थलों की भी नित्यता समान न्याय से सूचन की है। यही लीला ऋग्वेद में 'जज्ञान एव व्यबाधतस्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यं रणम्। अवृश्चदद्रिमवसः स्यदसृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम्' (ऋग्वेद १०।११३-४) अर्थ (जज्ञान एव) श्रीगोकुल में प्रकट होते ही, (स्पृधः) पूतना तृणावर्त आदि शत्रुओं को भगवान् ने, (व्यबाधत) विविध प्रकारों से विशेष करके मारा, (प्रापश्यद्वीरः) पश्चात् वीर विक्रान्त भगवान् ने मथुराद्वारका आदि में स्वयं अपने पौरुष (पराक्रम) के अनुरूप (रणं) दैत्यों के साथ संग्राम का, (प्रापश्यत्) अनुभव किया। अर्थात् संग्राम करते हुए अथवा (वीर) अकेला ही सर्वकौरवों का

विनाश करने में समर्थ होते हुए भी, (पौंस्यं) पुरुष संबंधि कौरव-पांडवों के, (रणं) संग्राम को, (प्रापश्यत्) तटस्थता से देखता हुआ। इस प्रकार पृथिवी में रहने वाले दैत्यों का भगवान् ने नाश किया। अब देवेन्द्र मदनाश का वर्णन श्रुति करती है। भगवान् ने व्रजवासियों की रक्षा करने के लिये (अद्रि) गोवर्द्धन पर्वत को, (अवृश्चत्–उत्पाटितवान्) उखाड़ा, (सः) भगवान्, (स्यतृं) इन्द्र द्वारा की गई जलवृष्टि का, (अवासृजत्) निवारण करते हुए। (एतया स्वपस्यया) गोकुल में रहने के लिये कर्म की इच्छा—लीला करने की इच्छा से, (पृथुं) विस्तीर्ण–विस्तार वाले (नाकं) स्वर्ग को, (अस्तभ्नात्) प्रतिबद्ध किया, अर्थात् इन्द्रादि देवताओं का मद दूर किया।

उक्त श्रुति द्वारा भी लीला की नित्यता प्रतिपादन की है। अब युक्तिवाद से भी गो० श्री विट्ठलनाथ जी लीला का नित्यत्व प्रतिपादन करते हैं। जिसका नाश हो वह अनित्य है, लीला का नाश होता ही नहीं है। इसलिये नित्य है। जो उत्पन्न होता है, उसका नाश होता है। भगवान् की लीला उत्पन्न नहीं होती—नित्य है। इसका क्रम-क्रम से आविर्भाव होता है। जिस प्रकार लौकिक ज्ञान से भगवान् का ज्ञान पृथक् नित्य है। उसी प्रकार लौकिक क्रिया से भगवान् की क्रिया लीला पृथक् नित्य है। इसी प्रकार 'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमिच्छत्सु विग्रहम्॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥ क्रोधेनैव तथा दैत्याः समेत्य मधुसूदनम्। अगच्छन्निधनं तेन हता मुक्तिमवाप्नुयुः॥ कामःक्रोधो नृणां लोके निरयस्यैव कारणम्। हरिं समेत्य तावेव मुक्त्यै गोपीसुरद्विषाम्॥ कामाद्भयाद्वा द्वेषाद्वा ये भजन्ति जनार्दनम्। ते प्राप्नुवन्ति वैकुण्ठे किं पुनर्भक्तियोगतः॥' यही प्रसंग पद्मपुराण तथा आदिवाराहपुराण में 'कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशवम्॥' महाकौर्म-पुराण में, 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्।' अर्थात् दण्डकारण्यवासी १६ हजार अग्निकुमार (ऋषि) जिनको वेद-वेदांग-मंत्रादि का पूर्ण ज्ञान था, किन्तु भगवदिच्छा से श्रीराम के स्वरूप का दर्शन कर विमोहित हो गये और श्रीराम के वरदान द्वारा व्रज में नन्दराय जी के भवन में कुमारिकाएँ होकर गौड़ देश से आये थे। मूल में पुरुष थे, किन्तु भावना थी स्त्री होने की, श्रीकृष्णावतार में इनका आधिदैविक रूप पुरुष रूप से प्रकट हुआ और आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक कन्यारूप गौड़ देश में प्रकट हुआ था, श्रीनन्दराय जी इनको अपने घर ले आये थे। इनमें स्त्रीभाव था, इसलिये भगवान् को अपना पति बनाने की अभिलाषा थी। उक्त इच्छापूर्ति में किसी प्रतिबन्ध को जानकर इसके दूर करने लिये हेमन्त के प्रथम महीने में कात्यायनी और द्वितीय में भद्रकाली का पूजन-व्रत किया था, अनन्तर कुमारिकाओं के वस्त्र हरण किये, उस समय भगवान् के साथ जो वयस्य बालक थे वे गोपों के नहीं थे किन्तु कुमारिकाओं के आधिदैविक रूप थे, पूतना के प्राण द्वारा भगवान् में आये थे।

जहां तक आधिदैविकादि रूप एक न हों वहाँ तक क्रिया रसजनक होती नहीं है। अतः आधिदैविक बालकों का प्रवेश दृष्टि द्वारा कुमारिकाओं में किया, फिर आवरण दूर कर प्रसन्न हो भगवान् ने वरदान दिया, 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'(भा. १०।१९।२७) यहां पर 'इमाः' इस इदम् शब्द का प्रयोग है, अतः समस्त रमणसम्बन्धी रात्रियों का प्रत्यक्ष दर्शन कराया, वरदान प्रातःकाल दिया था। उस वक्त पूर्व की लौकिकी रात्रि नहीं थी। लौकिक रात्रियों को कहते तो यहां 'ताः क्षपाः', वे रात्रियां, ऐसा प्रयोग होता, किन्तु यहां इदम् शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि नित्य रात्रियों का ही दर्शन कराया गया था। एवं इन्हीं रात्रियों में भगवान् ने इनका भी मनोरथ पूर्ण किया। ऋषियों की कथा के सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है। सोलह हजार ऋषि स्वयं पुरुष थे, पुरुष शरीर में स्त्रीभाव की उत्पत्ति लौकिक दृष्टि से भी सम्भावित नहीं होती। क्योंकि पुरुष

देह तथा स्त्रीभाव परस्पर विरुद्ध हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने विचार किया कि ये समग्र ऋषि अति शुद्ध पुण्यशाली हैं, इनके ऊपर इतने प्रसन्न हुये कि जो कभी किसी को दिया न जाय उस अपने स्वरूपानन्द के दान देने की इच्छा उत्पन्न हो गई। इस स्वरूपानन्द का अनुभव केवल पुरुष-रूप अथवा केवल स्त्रीरूप में नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं मिलता। भागवत में ऋषिपत्नियों को स्वरूपानन्द का दान नहीं दिया, और कुमारिकाओं को दिया।

भगवान् अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान् हैं, इनकी प्रसादरूपा शक्तियां अनेक हैं, इन प्रसाद-रूप शक्तियों में एक अत्यन्त अन्तरङ्ग शक्ति है। इसके साथ यदि जीवात्मा का संबंध हो जाता है, तो जीवात्मा भगवान् के स्वरूपानंद का अनुभव अवश्य करती है। यह शक्ति स्त्रीत्व धर्म वाली होती है, भगवान् ने ऋषियों में उक्त शक्ति को स्थापित किया, इससे इनको स्वरूपानंद का अनुभव हुआ। श्रीराम की इच्छा से स्वरूपानंद के अनुभव योग्य देह इनको कृष्णावतार में मिली थी और इन्होंने स्त्रीरूप कात्यायनी का पूजन किया, इसी में स्त्रीत्व गुण है, यही भगवान् की प्रसाद-रूपा शक्ति है, इसके द्वारा प्रसन्न होकर स्वरूपानन्द का अनुभव कराया था। जिस प्रकार दिव्य दृष्टि द्वारा दिव्य पदार्थों का दर्शन होता है, भगवदीय दृष्टि द्वारा भगवान् का दर्शन होता है उसी प्रकार भगवदीय स्त्रीत्वद्वारा जीवात्मा भगवान् के योग्य होता है। कुमारिकाओं ने स्त्रीभाव स्वीकारा था, अतः इनमें सहज काम था। वह काम भगवान् के स्पर्श बिना दूर नहीं होता। भगवान् का स्पर्श काम को शान्त कर नवीन इच्छा उत्पन्न नहीं करता, इसलिये उन्होंने उनके भावानुसार उनके साथ लीला कर कामभाव को नष्ट कर उन्हें निर्गुण बनाया। इसी प्रकार अन्यत्र कथा है कि पहले श्रुतिरूपा अथवा वाणीरूपा गोपिकाओं को ब्रह्माजी ने शाप दिया था। इसलिये उनमें शापजन्य कामदोष था, श्रुतियों द्वारा जगत् का उद्धार होता है, अतः श्रुतियां कामरहित होनी चाहिएँ, किन्तु, भगवान् के मुख्य अधिकारी ब्रह्माजी ने शाप दिया है, इसको भगवान् के बिना दूसरा कौन दूर कर सकता है। पुराणोक्त कथाओं से मालूम होता है कि जब-जब ब्रह्माजी, शिवजी अथवा इतर ऋषि, मुनि शाप अथवा वरदान देते हैं, तब-तब भगवान् ही सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा होने के कारण आप शापित व्यक्तियों का उद्धार करते हैं।

अहल्या शिला हुई, श्रीराम ने पादस्पर्श कर उद्धार किया; वाणासुर की भुजा भगवान् ने काटकर श्री महादेव की वाणी सफल की; वृकासुर आदि के संकट से छुड़ाया; नारदजी की वाणी सत्य करने को यमलार्जुन का उद्धार भगवान् ने ही किया था—इत्यादि, इत्यादि। इसी तरह ब्रह्माजी का दिया काम-शाप, उसकी पीड़ा भगवान् को ही निवृत्त कर गोपियों का उद्धार करना है। क्योंकि भगवान् ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वोद्धार-प्रयत्नवान हैं, अन्य देव नहीं। भागवत में इनके चरित्र से मालूम होता है कि शापजन्य काम की व्याप्ति इनके सर्वाङ्ग में हो गई थी, यद्यपि काम रजोगुण से उत्पन्न होता है, तथापि इतना प्रकुपित हो गया कि स्वयं तामसी होकर गोपियों की भी तामसावस्था कर दी, इसलिये वे तामस कहलाईं। सनकादि द्वारा जय-विजय के शापप्रसङ्ग में (भाग० ३–१६–३० । श्रीसुबोधिनी) 'मयि संरम्भयोगेन' इस श्लोक में श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य कहते हैं कि—

तर्हि ब्रह्मशापस्य का गतिस्तत्राह। मयीति। ब्रह्मशापस्य प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्, प्रायश्चित्तानंतरं हि पुरुषः शुद्धः, शुद्धेनैव हि विहितं कर्तव्यम्, भगवद्भक्तानां च प्रायश्चित्तं भगवत्स्मरणमेव। तच्च स्मरणं लौकिकं भवति, शुद्धस्यैव हि वैदिकेऽधिकारात्, लौकिकत्वात् प्रायश्चित्तत्वं च। नित्यता तु स्मरणस्य। प्रथमप्रवृत्तानां यावद्भगवदीया भवन्ति। पश्चात्तु पापमेव नोत्पद्यते। भगवदिच्छया तु तदुत्पत्तिः, तदिच्छाया बलिष्ठत्वात्, स्मरणं न सम्भवति। लौकिके तु बाधाभावात्, भगवत्सा-

युज्यादि, साधकत्वाऽभावेऽपि प्रायश्चित्तत्वमस्ति, दोषनिर्घातकत्वस्य स्मरणसहजधर्मत्वात्। कामादयो हि केवललौकिकाः, लौकिकपोषहेतवः, क्रोधोऽत्र शापहेतुर्जात इति क्रोधेनैव स्मरणं भविष्यति। अन्यथा विस्मरणमेव स्यात्। एवं गोपिकानां कामोऽपि। ब्रह्मणा हि कामेन वाक् शप्ता, अत एव वाचा न प्रजापतेर्होमः। 'वाक् च मनश्चार्तीयेताम्' इत्युपाख्याने तथा निरूपणात्। सैव वाक् गोपिकाः। भयेन शुक्राचार्येण शप्ताः कालनेमिप्रभृतयः, तेहि बृहस्पतिमुररीकृतवन्तः, स्वपौरोहित्यगमनभयात् क्षिप्ता इति भयेनैव स्मरणं कंसस्य, अन्ये च देवा यथायथं तत्तत्संबंधिनो बृहस्पतिदुर्वासःप्रभृतिभिः शप्ता इति संबंधस्नेहादेव स्मरणं यादवादीनाम्। एते चत्वारोऽपि शापात्तथोत्पन्नाः, तथा स्मरणेन तत्तच्छापं हित्वा स्वभगवदीयेनैव रूपेण भगवत्पदं प्राप्ताः। तथाऽत्रापि 'अस्तु शम्' इति वाक्यात् पदप्राप्तिः, भगवति च क्रोधसंरम्भयोगेन ब्रह्मावज्ञालक्षणं दोषं निर्हृत्य, मे निकाशं समीपम्, अतिनिकटयं वा द्वारापेक्षया चरणे, अल्पीयसा कालेन पुनः प्रत्येष्यतमिति क्रोधसम्बन्धस्य लोके अपुरुषार्थत्वात्, पुरुषार्थत्वाय योगपदम्॥ ३१॥

इसका सारांश—तो ब्रह्मशाप की क्या गति है? इस प्रश्न का उत्तर—ब्रह्मशाप का प्रायश्चित्त करना चाहिये, प्रायश्चित्त करने के अनन्तर पुरुष शुद्ध होता है, शुद्ध द्वारा ही विहित करना चाहिये। भगवान् के भक्तों का प्रायश्चित्त भगवत्स्मरण ही है। वह स्मरण लौकिक होता है। शुद्ध का ही वैदिक में अधिकार होने के कारण, बिना शुद्ध हुए वैदिक कर नहीं सकता। स्मरण को लौकिक होने से प्रायश्चित्तता है। यदि कहो कि स्मरण प्रायश्चित्तरूप है, तो इसके द्वारा पाप दूर होने के अनन्तर फिर स्मरण की आवश्यकता नहीं रहती, और 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुः' इत्यादि वाक्य में स्मरण की नित्यता बतलाई है, उसमें बाध आवेगा। तब इसके उत्तर में कहते हैं कि—जबतक भगवदीय होते हैं, तबतक प्रथम कक्षा में प्रवृत्त होनेवालों के स्मरण को नित्यता है। भगवदीय होने के बाद में तो पाप ही नहीं उत्पन्न होते। हां यदि भगवान् की इच्छा हो तो पाप उत्पन्न हो सकते हैं। उस समय भगवदिच्छा बलिष्ठ होने से स्मरण भी, जिससे पाप दूर होते हैं, कर्मव्यासङ्ग के कारण सम्भव नहीं होता है। तब तो उक्त आपत्ति लौकिक में भी होगी? नहीं, लौकिक के प्रतिकूल भगवदिच्छा न होने से वैदिक की तरह आपत्ति (बाध) लौकिक में नहीं होती। लौकिक स्मरण को भगवत्सायुज्यादिसाधकत्व का अभाव होने पर भी प्रायश्चित्तता है। क्योंकि दोषनाशकरत्व (करना) स्मरण का सहज धर्म है। कामादिक केवल लौकिक हैं और लौकिक पोषण में हेतु हैं।

जय-विजय को शाप होने में क्रोध हेतु हुआ है, इसलिये क्रोध द्वारा ही स्मरण होगा नहीं तो विस्मरण ही होगा। इसी प्रकार गोपिकाओं को काम भगवान् के स्मरण में हेतु है। क्योंकि कामुक ब्रह्मा ने वाणी को शाप दिया, इसीसे उच्चारण (बोल) कर प्रजापति को होमाहुति नहीं दी जाती। 'वाक् च मनश्चार्त्तीयेताम्' इस उपाख्यान में इसका निरूपण किया है। वे ही शापित श्रुति रूप वाणी गोपिकायें हैं। भय से शुक्राचार्य ने कालनेमि प्रभृतियों को शाप दिया है। शुक्राचार्य तप करने चले गये तब उनका रूप धारणकर बृहस्पति आया, कालनेमि प्रभृति बृहस्पति को पुरोहित बनाते थे। अतः मेरा पौरोहित्य न चला जाय इस भय से उनको शाप दे पृथ्वी पर भेज दिया। कालनेमि ही कंस हुआ, इसलिये भय से कंस ने स्मरण किया। तत्तत्संबंधि अन्य देवताओं को बृहस्पति एवं दुर्वासा आदि के द्वारा शाप मिला, शापनिरूपण पञ्चेन्द्र प्रकरण में कहा है। अतः यादव-पाण्डवों ने सम्बन्ध स्नेह से ही स्मरण किया। ये चारों वाणी गोपिकाएं, जय-विजय, शिशुपाल, दन्तवक्त्र। कालनेमि, कंस, देवता, यादव, पाण्डव। शापद्वारा भूतल पर उत्पन्न हो काम, क्रोध, भय, स्नेह से भग-

वान् का स्मरण कर शाप से छुटकारा पाकर अपने भगवदीय रूप से ही भगवत्पद को प्राप्त हुए। उक्त वाक्यों से स्पष्ट हुआ कि निर्गुण भगवान् की प्राप्ति जब तक तामस, राजस, सात्त्विक तीनों गुणों का उल्लंघन कर जीव निर्गुण नहीं होता तब तक नहीं होती। ब्रह्मा जैसे समर्थ देवता का दिया शाप भगवत्कृति द्वारा ही दूर हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता। अतः भगवान् रासक्रीड़ा में स्पर्श द्वारा **तामस गुण** से गोपिकाओं को मुक्त करते हैं। पहले कह चुके हैं कि काम, क्रोध, भयादि द्वारा किया गया भगवत्स्मरण लौकिक होने से प्रायश्चित्तरूप होता है। अतः पापों को दूर करता है। काम, क्रोधादि तो रहते ही हैं। इनके दूर करने के लिये तो भगवान् के अनुग्रह की आवश्यकता रहती ही है।

व्रजभक्तों को तामस गुण से मुक्त कर भगवान मथुरा पधारे तब गोकुल से सबका तामस साथ लेकर पधारे और समस्त गोकुलस्थ भक्त राजसी हो गये, इस प्रकार यादवादि तथा गोकुलस्थ राजसी होकर आगे सात्त्विक हो गये। अनन्तर अन्त में तीनों भक्त निर्गुण हो गये। इनकी मुक्ति का वर्णन एकादश स्कंध में किया है। 'इतोऽपि चेद्धरिर्गच्छेन्नीत्वा सर्वस्य तामसम्। राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः॥ 'उभये च ततस्त्वग्रे सात्त्विका निर्गुणास्ततः। त्रयोऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम्।' (भागवतार्थ निबन्ध दश० स्कन्ध, राजस प्रमाण प्रकरण १२६-१२७)। भगवान् के मथुरा पधारने के बाद व्रज गोपिकाओं में रजोगुण था, इसका सूचन (भा० १०।४७।४०) 'कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य' इत्यादि श्लोकों में गोपिकाओं के वाक्यों से होता है। इसीलिये भगवान् ने रजोगुण दूर करने के लिये उद्धवजी को भेजकर ज्ञानोपदेश किया। 'भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्।' (भा० १०।४७।२९)। भगवान कहते हैं कि तुमको मेरा किसी समय कभी वियोग नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच भूत जिस प्रकार प्राणिमात्र स्थावर जङ्गम में रहते हैं, उसी प्रकार मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय तथा गुण में रहता हूँ। इत्यादि श्लोकों द्वारा उद्धवजी को भेजकर रजोगुण दूर कराके सात्त्विक–फिर निर्गुण कराने का उपाय श्लोक 'यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्' १०।४७।३४ इसको सुबोधिनी में आचार्यश्री कहते हैं कि 'मनसितु भगवति समागमे मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति' मन में तो भगवान् का समागम होने पर मन भगवद्धर्मों को ग्रहण करता है। 'गुणास्त्वनुभावरूपाः क्रिया नापेक्षन्ते'। भगवद्धर्म क्रिया की अपेक्षा न करके तीनों गुणों को दूर कर देते हैं। इस प्रकार उद्धवजी द्वारा भगवान् के ज्ञानोपदेश से गोपियां रजोगुण दूरकर सात्त्विकी हुईं, और फिर कुरुक्षेत्र प्रसङ्ग में भगवान् का दर्शन किया। उस समय आपने ज्ञानोपदेश दिया तब सात्त्विक गुण दूर होकर निर्गुण हो गईं। अतएव आचार्यश्री कहते हैं कि 'एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः', 'कामनिवारणार्थञ्च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम्' इस प्रकार निष्कामता से गोपियां मुख्य भक्त हुईं, काम निवारण करने के लिये ज्ञान का उपदेश है, यह निरूपण किया। उक्त जय-विजय प्रसङ्ग में सुबोधिनी से यह स्पष्ट होता है कि जिस समय कोई जीव समर्थ व्यक्ति के द्वारा शापित होता है, और उस शाप का दूर होना किसी अन्य द्वारा अनिवार्य हो, तथा जिस हेतु काम-क्रोधादि से दिया हो और उस शाप से दुःखित व्यक्ति उसी के द्वारा (काम-क्रोधादि द्वारा) भगवत्स्मरण करता हो, तब सर्वसमर्थ भगवान् इस पर अनुग्रह करते हैं। सारांश काम-क्रोधादि, किसी कारणवश शापित व्यक्तियों के ऊपर ही अनुग्रह में हेतु है, मुख्य नहीं।

मुख्यतया तो निर्गुण निरूपाधि प्रेम भक्ति ही है। दशमस्कन्ध में भगवान ने इस प्रकार के जीवों का उद्धार (जो लोकवेद दृष्टि से कठिन मालूम पड़ता है) करके सर्वोत्कृष्ट अनुग्रह मार्ग का प्रदर्शन कराया है। इसलिये समग्र भागवत में यह स्कन्ध महत्त्वपूर्ण माना गया है। 'यस्य नाहंकृतो

भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । हत्वापि स इमांल्लोकान् न हंति न निबध्यते' गीता । योगेश्वर का स्पर्श पवित्र, निर्दोष एवं श्रेयःसाधक होता है । क्योंकि वे निष्काम होते हैं, एवं स्पर्श केवल परोपकार बुद्धि से ही करते हैं । भगवान् तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, फिर इनका स्पर्श पवित्र, निर्दोष श्रेय-साधक हो तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ? इसीसे श्रीमहाप्रभु वल्लभाचार्यजी (सुबो० १०। २६ ४२, कारिका ३०) 'तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः' गोपियों को मान हुआ, और भगवान् का तिरोभाव हो गया क्योंकि यह लौकिक कामुक नहीं हैं ।•आगे (का० १-४) । 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते । तासां कामस्य सम्पूर्त्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥ कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः । कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥२॥ अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च । अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥ भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते । अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम्' ॥ ४ ॥ यहाँ पर क्रिया सब जो कामशास्त्र में सिद्ध हैं, नहीं हैं । किन्तु कामशास्त्रसिद्ध स्त्रीप्रेक्षणादि से उत्पन्न अङ्गादि विकार हेतु काम नहीं है । क्योंकि गोपियों की अभिलाषपूर्ति निष्काम भगवान् ने की है । अतः गोपियाँ भी निष्काम हैं । यदि काम से कामपूरित होता तो संसारोत्पत्ति ही उत्पन्न करे, अर्थात् इस प्रकार की कामलीला सुननेवाले को संसारोत्पत्ति हो—हृद्रोग कामनिवृत्ति नहीं हो । अतः जिस स्वरूप में काम का लेश नहीं उस स्वरूप द्वारा निष्काम ही अभिलाष पूर्ण होती है इसमें सन्देह नहीं । अतः गोपियां निष्काम अभिलाषी होने से निष्काम हैं । इसलिये कोई मर्यादा भङ्ग नहीं हुई और न मोक्षफल में ही हानि हुई । इस लीला के सुनने पर लोग सर्वथा निष्काम होते हैं । क्योंकि भगवान् सर्वचरित्र निष्काम हैं, इसलिये यहां कामोद्बोध नहीं है, यह श्रीशुकदेवजी के वाक्य से स्फुट है । योगेश्वर भगवान् को कामवासना नहीं होती, अतः इनका स्पर्श निर्दोष है । भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं । इनका स्पर्श अपना ही है 'न हि स्वस्य स्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्धः' अपना स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं होता ।

एक विचार और भी है कि, जैसे लौकिक में हीन जाति के साथ हीन कर्म करना मर्यादाभंग करने वाला एवं निषिद्ध है । उसी प्रकार भगवान् हीन कर्म कभी नहीं करते, इनकी समग्र लीला निर्दोषपूर्ण गुण युक्त, समान शील के साथ होती हैं और वे भक्तवत्सलता का प्रदर्शन करती हैं । इन व्रजभक्तों में भी लक्ष्यांश विद्यमान हैं । आचार्यों ने दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण किया है । 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्, लक्ष्मी सहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्' इसका अर्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने स्वकृत टिप्पणी में लिखा है । श्री आचार्य दशमस्कन्ध का विवरण करने की इच्छा करते, स्कन्धार्थरूप भी भगवान् हैं, इसको जताने के लिए स्कन्धार्थरूप भगवान् को नमन करते हैं । 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' इस वाक्य के स्कन्धार्थरूप विवरण में कहा है ।

जिस प्रकार नारायण दास्योपयोगी शय्यादि सर्वार्थ रूप से प्रभु के शेषभाव को प्राप्त होने से शेषरूप से प्रसिद्ध, वेदात्मकता से प्रमाणरूप शेष में लक्ष्मी द्वारा सेवित क्षीरसमुद्र में शयन करते हैं । उसी प्रकार सर्वात्म से दासता को प्राप्त हुये, शेषरूप हमारे हृदय में पुष्टि रस के पाने की इच्छा करनेवालों को पीने-योग्य, अत्यन्त अगाध जो लीला क्षीरसमुद्र उसमें शयन करने से लक्ष्मी सहस्रों द्वारा तथा उनकी लीलाओं द्वारा सेवा किये गये चौंसठ कलानिधान उनके रसपोषण में अति चतुर अन्यत्र गतिरहित, उनकी आत्मा जो भगवान् रसात्मा पूर्ण पुरुषोत्तम, उनको नमन करता हूं । कला निधान शब्द से पूर्ण पुरुषोत्तम तथा नारायण रूप से विलक्षणता बतलाई है । वहां एक लक्ष्मी है, वहां अपरिमित लक्ष्मियां कही गई हैं । वहां क्षीरसमुद्र में शेषशय्या पर शयन कहा है,

यहां हृदयात्मक शेषशय्या लीलाक्षीराब्धि में शयन कहा है । इसका आशय यह समझना चाहिये कि सर्वात्मभाव वाले भक्तहृदय में निरन्तर भावना द्वारा रसात्मक पुष्टिमार्गीय लीलासमुद्र भगवान् ने स्वयं ही प्रकट किया, जिस प्रकार वृन्दावन प्रवेश वेणुकूजन आदि किया । उस समुद्र में पुष्टिमार्गीय भक्तों द्वारा अपने स्वरूप से अपनी लीलारूप जो कटाक्षादि हैं, उनके द्वारा सेवित हैं । इत्यादि कथन से नायिकायें भी प्रभुलीला-मध्यपातिनी हैं । इसलिये उनको पृथक् कहना अयुक्त है यह शंका भी दूर कर दी । जिस प्रकार पुरि में शयन पुरुष का है । उसी प्रकार यहां तत्तल्लीलानुरूप स्थिति को शयन पद से कहा है, न कि निद्रा को । यदि यहाँ शयन पद का अर्थ निद्रा मानते हो तो विविध नायिकाओं द्वारा की गई लीलाओं का अनुपयोग होने से सेवनोक्ति विरुद्ध हो जाती है । इसलिये यहाँ निद्रा अर्थ नहीं है ।

जिस प्रकार नारायण से कमल और फिर कमल से सारी सृष्टि हुई । उसी प्रकार स्थायि भावात्मक पुरुषोत्तम अपने में कमलवत् विचित्र भावों को उत्पन्न करके ब्रह्मा की तरह, किसी प्रचुर भाव का उत्पादन करते हुए जिसके द्वारा भगवल्लीलाओं को प्रकट करने वाला अखिल रसात्मक जगत् प्रकट हुआ, इस प्रकार शयन पद नारायण में प्रसिद्ध है । अतः आचार्यों ने भी नारायण धर्म की समानता निरूपण की है, यदि अनुशयन शब्द 'अनुशय्यते अनेन' भावार्थक मान लिया जाय तब करणव्युत्पत्ति से व्रज-भक्तों के साथ अपना निगूढ़ भाव करना निरोध है । स्वकीयों में स्वविषयक भाव का उत्पादन जिस लीला द्वारा होता है वह लीला निरोध शब्दवाच्य तथा निर्दोष है । भाग० द० १०।१८७।१८ स्कंध समाप्ति में 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् । स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्' अर्थ—मनुष्यों में जिसका निवास है, देवकी से जिसका जन्मवाद है, श्रेष्ठ यादवों की सभा में अपने सेवकरूप बाहु द्वारा धर्म का नाश करने स्थावर जङ्गम प्राणियों के पाप नाश करने वाले, सुन्दर स्मित युक्त श्रीमुख द्वारा व्रज तथा नगर की स्त्रियों को कामदेव बढ़ाते जय को प्राप्त होते हैं । इस श्लोक में 'जयति' 'वर्तमान 'क्रिया तथा अस्यन्, वर्धयन्' दो वर्तमान कृदन्त प्रयोग भगवान् की लीलाओं की नित्यता सूचन करते हैं । गर्गाचार्य नामकरण संस्कार के समय में कहते हैं कि 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' तुम्हारे पुत्र के गुण तथा कर्मों के अनुरूप अनंत नाम और रूप हैं । उन सबको मैं जानता हूँ, अन्य जन नहीं जानते । इस श्लोक में भी 'सन्ति' क्रिया वर्तमान काल की नाम रूप की नित्यता बतलाती है । अतः श्रीआचार्यचरण निब. भा. १ में कहते हैं कि 'एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः'—'पूर्व सिद्ध लीलाओं का लोक में भक्तों को तत्तद्रस के अनुभव के लिये किसी अंश का आविर्भाव, और किसी अंश का आच्छादन होने से क्रम से अनुभव होता है । जैसे पृथिवी में ही तत्तद्देश में तत्तत्कालमें तत्तद्गंध रूप से आविर्भाव होता है, जलादि में नहीं । वैसे तत्तत्काल में देश में तत्तद्रस के भोगने के लिये तत्तद्रस का आविर्भाव होता है । अभी भी किसी-किसी देश में स्मरण करने पर भक्तों को लीलानुभव होता है । यदि लीलाविशिष्ट स्वरूप नित्य न हो तो अनुभव भी न होना चाहिये । अतः सिद्ध हुआ कि भगवन्नाम, लीला, स्थान और वहां रहनेवाले, उनके साथ की गई लीला सब नित्य हैं ।

'रसो वै सः' इति सर्वरसः', इत्यादि श्रुति प्रमाण से भगवान् विभावानुभाव संचारिभाव विशिष्ट संयोग-विप्रलम्भ आदि तत्तद्भेदविशिष्ट सर्वरूपत्व हैं । यह निर्विवाद कहा है । इसका स्पष्टीकरण—जैसे किसी भक्त से भगवान् ने कहा, मैं तुम्हारे घर आऊँगा । उस समय भगवान् के आगमन में, परम आर्त्ति लक्षण रस पोषणार्थ 'मैं आऊँगा' इस वाक्य के कथनानन्तर ही मेरे घर प्रिय निश्चय आवेंगे,

और उनके आने पर मेरे सर्वमनोरथों की पूर्त्ति होगी। इस निश्चय के द्वारा उस समय भक्त में अनेक अमन्द आनन्दरूप अतिविलक्षण रसभावविशेष उत्पन्न होते हैं। जब तक भगवान् 'मैं आऊँगा' नहीं कहते तब तक रसभावविशेष उत्पन्न नहीं होते। यह सर्वानुभव सिद्ध है। भगवान् के कहने के बाद ही रस भावोत्पन्न होते हैं। इसीलिये भगवान् भी मैं 'आऊँगा' कहते हैं। भगवान् को भी भक्त-भाव देखकर उससे उत्पन्न हुआ तत्समयोचित भावविशेष परमानन्द रूप अनुभव विषय होता है। अर्थात् 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति प्रमाण से स्वरूपात्मक ही इस रस का सदा अनुभव करता है 'मैं आऊँगा' इस प्रकार वाणी द्वारा आश्वासित भक्त घर गमन में पहले अवधि करके, उस समय को बिताकर, अथवा उसी समय प्रियतम के आने पर जो रसात्मक भावविशेष हैं, उनसे स्वयं भगवान् रसात्मक होता हुआ, उक्त श्रुतिरीति से आत्मरूप रस का ही अनुभव करता है। शास्त्र में उक्त रीति से ही रसोत्पत्ति कही हुई है। अतः यहाँ भी उसी सरणी का आदर किया है।

संयोग-वियोगादि रूप रस अनेक भावरूप और भगवद्रूप हैं। इसलिये जहां जो रस जैसा, जिस प्रकार का स्वशास्त्रसिद्ध है, वहां रस उसी प्रकार का वह रस भगवान् ही है। यह फलार्थ हुआ। भगावान् तो एक ही हैं। वहां की सर्वसामग्री भगवद्रूपा ही है। अतः भविष्य अनुभव को भी स्वरूप के अन्तःपाति होने से नित्यत्व में विरोध नहीं आता, भगवान् की इच्छा से भविष्य अनुभव भी होता है। अब उक्त कथन से और भी स्पष्ट हो गया कि भगवत्स्थान और उनमें रहने वाले नित्य लीला अन्तःपाति भक्त लीला सामग्री एवं भगवत्कृत लीला, नाम सब नित्य हैं।

शंका—'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः' इस वाक्यानुसार अनेक जन्मों द्वारा सञ्चित किया सुकृत समूह जिन्होंने, एवं अत्यन्त भगवदनुग्रह पात्र महत्तमों की चरणरज से अभिषिक्त पुरुष को यदि नित्य लीला मध्यपाति भक्तों का भाव उत्पन्न हो जाय और उनके भावानुसार फलाभिलाष से भजन करने पर भगवल्लीला मध्यपातित्व है अथवा नहीं ? पूर्वपक्ष, नहीं है। क्योंकि इस समय के भी भक्त यदि उक्त लीला रसानुभव कामना से भगवद्भजन करेंगे तो उनके साथ भी भगवान् लीला करेंगे, ऐसा आप कहेंगे, तो इनके साथ क्रियमाण लीला को जन्यत्व होने से नित्यता नहीं कह सकते। इसलिये भक्त के अध भगवान् कहीं प्रकट होकर इसको लीलान्तःपातिभक्तों की तरह सुख देकर भी उसका अपने ही में प्रवेश करायेंगे अर्थात् मुक्ति देंगे, नित्य लीला में प्रवेश नहीं करायंगे। गौतमीयों के मत से इस शंका का उत्तर—गौतमीयों के मत में ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः ईश्वर को सर्वविषयक ज्ञान अवश्य कहना चाहिये। विषयों को जन्यता होने पर भी जैसे सर्वविषयक ईश्वर ज्ञान को जन्यता नहीं है। क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण से नित्यता ही है। उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों से उक्त प्रकार भक्तयिषयिणी लीला को भी नित्यता सिद्ध होती है। यदि कहो कि आधुनिक भक्त को नित्य लीला विषय होने में प्रमाण क्या है ? इसके उत्तर में प्रमाण तो पहले ही बृहद्वामनपुराण की कथा में कहा है 'पृथिव्यां भारते क्षेत्रे' इत्यादि से। यह स्थान केवल अक्षर मध्यपाति नित्य लीला स्थान है, स्थानान्तर की-सी प्रतीति होती है। इसलिये यद्यपि यहां की लीला भिन्न है ऐसा भ्रम होता है तथापि 'तावां वास्तूनि' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में 'अत्राहतदुरंगायस्य' यह कहा है। एवं 'नास्य जरयैतज्जीर्यति' इत्यादि श्रुति द्वारा वेश्मजरादि का निराकरण करके सत्यत्व का निरूपण किया गया है। एवं बृहद्वामनपुराण के वाक्य में 'व्यापिवैकुण्ठसंज्ञितः' वैकुण्ठ का व्यापि विशेषण दिया है। अतः पृथिवी में दृश्यमान को उससे अभिन्न, अथवा इसमें व्यापि वैकुण्ठ की व्यापकता मानकर उसका यहां भी सत्त्व होने से श्रुति सम्बंधिनी भी लीला उस लोक की तरह यहां भी नित्य ही है।

पूर्व में कहा नैयायिक प्रतिपन्न ईश्वर ज्ञान की तरह विषय को अनित्य होने पर भी लीला

की नित्यता निर्विरोध सिद्ध होती है। इसके आगे 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्। हृदि-कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः' इस वाक्यानुसार भगवान् अनुग्रह कर जिसका अङ्गीकार करते हैं उस आधुनिक भक्त का भी लीला में प्रवेश कराते हैं। यदि सर्वात्मभाव से भक्त भजन करता है तो भगवान् उसका अङ्गीकार करते ही हैं। नहीं तो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' यह मर्यादाभंग हो जाय। यदि कहो कि तुमने नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार समाधान किया है। अन्य इसे कैसे मानेंगे ? अतः दूसरे प्रकार से समाधान करते हैं कि जिस प्रकार पूर्वोक्त भक्तसम्बन्धिनी वर्तमान लीला का यथाक्रम से आविर्भाव होता है। उसी प्रकार आधुनिक भक्तसम्बन्धिनी वर्तमान लीला का भी आविर्भाव होता है। भगवदिच्छा को ही कारण सर्वत्र सबको अङ्गीकार करना चाहिये, यह सर्वोपरि समाधान है। अथवा जैसे स्वाश्रयमोक्षवादियों के मत में शबर कुल द्वारा संवर्द्धित राजकुमार की तरह, अथवा विस्मृत कण्ठमणि के स्मरण की तरह पूर्व सिद्ध ही स्वरूप के ज्ञान होने पर प्रतिबन्ध निवृत्ति मात्र से प्राप्ति में उपचार कहा है। उसी प्रकार प्रकृत विषय में भी साधनों द्वारा प्रतिबन्ध निवृत्त होने पर लीलानुभव, आधुनिक भक्तों को भी तात्कालिक स्वसम्ब-धित्व उपचार है। इसमें उनकी ही युक्ति द्वारा उनकी जड़ता का परिहार किया है। अस्तु, विषय गम्भीर है, श्री गो. विट्ठलनाथ जी ने विद्वन्मंडन में बहुत विस्तारपूर्वक कहा है। विशेष जिज्ञासु वहां देखें यहां तो विस्तार भय से सूक्ष्मातिसूक्ष्म कुछ दिग्दर्शन कराया है। अधिकारी विद्वज्जन को इतना ही पर्याप्त होगा।

इस प्रकार भगवान् की लीला मथुरा-व्रजमण्डल में सदा नित्य होती है। इनका अनुभव अवतार दशा में स्वयं भगवान् अपने स्वरूप बल से कराते हैं[1] और अप्रत्यक्ष दशा में अखण्ड-मण्डलाचार्यवर्य चक्रचूड़ामणि श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणों ने भूतल पर सन्मनुष्याकृति स्वरूप से पधारकर कितने ही जीवों को अनुभव कराया था तथा शुद्धाद्वैत निर्गुण मार्गपुष्टि का प्रसार कर दैवीजीवों का तीन बार पृथिवी प्रदक्षिणा के मिष से अङ्गीकार किया था। यद्यपि भक्तों को अद्यावधि विराजमान का अनुभव होता है, तथापि सर्वसाधारण की अपेक्षा इस समय अप्रत्यक्षता में इनके ग्रंथ सुबोधिनी आदि के द्वारा सर्वपुष्टिमार्ग के सिद्धान्त का बोध एवं तदनुसार चलने से फलादि प्राप्त होता है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में (वेदान्त में) चार प्रस्थान वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत स्वीकार किये गये हैं, जिनमें से पहले में जो सन्देह हो, उसकी निवृत्ति पिछले-पिछले में की गई है। अतः श्रीमद्भागवत तीनों प्रस्थानों का संदेह दूर करता है। इसलिये इसका गौरव अन्य प्रस्थानों की अपेक्षा अधिक है। पुराण भी वेदतुल्य पंचम वेद है। पुराणं वेद-वत् पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्। सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः' (निब० सर्व० श्लो० ४७) अर्थात् पुराण वेद की तरह है, इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति, ये पांचो नित्य हैं। स्वयं भी नित्य है। वेद तो त्रिवर्णोपयोगी ही है, किन्तु पुराण चारो वर्णों के उपयोगी है। जिस प्रकार घर में वस्तु आदि के बिना स्थिति नहीं होती उसी प्रकार पुराण के बिना वैदिक अर्थ का ज्ञान नहीं होता 'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्' श्रुति स्मृति दोनों नेत्र हैं और पुराण

---

१. यदि कहो कि सर्वत्र साधन सिद्ध है, उसके द्वारा उद्धार हो जायगा फिर भगवान् क्यों अवतार लेते हैं ? इसके उत्तर में इतना ही पर्याप्त होगा कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं, यदि आप अवतीर्ण न होते तो कलि में साधन सब भस्म कर दिये बिना साधक जीवों का उद्धार न होता, अतः निःसाधन भक्तों को अपने काम-क्रोधादि असाधनों को भी साधन बनाकर जीवों का उद्धार करने को अवतार लिया था।

हृदय है। इतना ही नहीं मत्स्यपुराण में तो 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटिप्रविस्तरम्'। 'अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः, पुराणमेकमेवासीत् तस्मिन्कल्पान्तरेऽनघ'।

सर्वशास्त्रों से प्रथम ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया था। पुराण नित्य शब्दमय ब्रह्म सौ करोड़ विस्तृत है। इसके अनन्तर ब्रह्मा के मुखों से वेद निकले। इत्यादि वाक्यों से पुराण का महत्व भी अत्यधिक है। पुराण के बिना बाहरी पदार्थों का ज्ञान एवं सृष्टि और उसमें जितने पदार्थ हैं, उन का भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उक्त प्रमाण से पहले एक ही पुराण था। 'अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः' इस वाक्य से पुराणों को व्यास कृति नहीं मानना चाहिये। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि श्रीव्यास जी ने वेदों का व्यास (विस्तार) एवं पुराणों का संकलन (एकत्रित) करके विभाजन किया है और वेदों की सहस्र शाखाओं की तरह अष्टादशादि संख्या हो गई है। जिस प्रकार वेद शाखाओं के काठकादि नाम प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार ब्रह्मादि नाम हुए। श्रीव्यास जी ने विभाजन सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का किया और तीन प्रकार के कल्पों के अनुसार तत्तत्कल्पानुसारि पुराण में सात्त्विकादि देवताओं के माहात्म्य का वर्णन तथा पुराण के विशेष लक्षण कहे गये हैं। श्रीमद्भागवत सब पुराणों में श्रेष्ठ है। 'तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः' (भा० १-२ अ० १३-१७)। श्रीभागवत का लक्षण स्कंदपुराण में इस प्रकार कहा है "ग्रन्थोष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कंधसंयुतः। हयग्रीव ॥ ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा—गायत्र्या च समारम्भ स्तद् वै भागवतं विदुः' अठारह हजार ग्रंथ वाराहस्कंधयुक्त जिसमें हयग्रीव ब्रह्मविद्या और वृत्रवध तथा गायत्री से प्रारम्भ जिसका वह भागवत है। पद्मपुराण उत्तरखंड में 'इदं भगवता प्रोक्तं चतुःश्लोक्या स्वयं मुने। नारदाय स चैवाह मह्यं स मुनये ह्यहम्॥ शुकाय ब्रह्मराताय सतु राज्ञेऽभिमन्यवे' भगवान् ने चार श्लोक ब्रह्मा से और ब्रह्मा ने नारद से, नारद ने व्यास से, व्यास ने शुक से, उसने परीक्षित से कहा।

इसी प्रकार वाराहपुराण में भी जब परीक्षित को शाप दिया उस प्रसङ्ग में कहा है। गायत्री वेदमाता है। श्रीमद्भागवत वेदतुल्य है। अतः 'जन्माद्यस्य' इस प्रथम श्लोक में वेदमाता गायत्री का अर्थ बीजरूप में कथन किया गया है। वस्तुतः गायत्री बीज और वेद वृक्ष, श्रीमद्भागवत फल है। 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्' इस श्लोक में निरूपण किया है। भागवत वाङ्मयी भगवान् की प्रत्यक्ष मूर्ति है।'तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः',पद्मपु० भा० मा० अ० ३ श्लो० ६२। भगवत्कला व्यासजी का भी अनेक पुराण इतिहास द्वारा मन प्रसन्न न होने पर समाधि में श्रीभागवत के द्वारा ही संतुष्ट हुआ था। अतः वेदव्यास की समाधिभाषा श्रीमद्भागवत का दर्शन साहित्य में सर्वोपरि उच्चतम स्थान है। भगवान् प्रकट होकर स्वरूप लीला करते हैं, और जब रूप लीला का तिरोधान हो जाता है, तब नाम लीला द्वारा क्रीडा करते हैं। श्रीभागवत साक्षात् स्वरूपात्मिका है। इसमें सर्वगूढ़ं तत्त्व का निरूपण किया है। यह बुद्धि परिकल्पित काव्यों की तरह असत्य नहीं है, इसके स्वरूप का ज्ञान भगवदंश जब व्यासजी को ही नहीं ज्ञात हुआ तब अन्य जीवों की क्या सामर्थ्य है। यह श्रीव्यासजी ने भागवत में स्वयं कहा है, अनन्तर भगवान् की इच्छा से व्यवधायक दूर होने पर भागवत का दर्शन करके इसका संकलन किया 'सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।' 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्रेति' समस्त वेद इतिहासादि का सार निकाल लिया, तथा इसमें निष्कपट धर्म का प्रतिपादन है। इत्यादि वाक्यों से अन्य पुराणों की अपेक्षा भी श्रीभागवत का स्थान परम उच्चतम है। क्योंकि इसमें मुख्यतया जिस प्रकार वेदों में, उसी प्रकार 'भगवान्

ब्रह्म कात्स्न्र्येन, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां'। इत्यादि वाक्यों से 'तमुस्तोतारः पूर्व्यम्'। इत्यादि श्रुति द्वारा ब्रह्म मात्र का प्रकाशन है। जो चार श्लोकों द्वारा भगवान् ने ब्रह्मा से कहा, वही ब्रह्मा ने तीन अध्याय से नारद के लिये कहा, वहां पर 'त्वमेतद्विपुलीकुरु' तुम इसे विस्तृत करो यह आज्ञा की है। विपुल करने का अर्थ यह है कि, एक ही अर्थ का तत्तधिकारियों के हृदय में प्रवेश के लिये अनेक प्रकार से कहना। जिस प्रकार नृसिंहोत्तरतापनी में, ओंकार की व्याख्या की। अथवा 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्' संपूर्ण पञ्चरात्र के वक्ता स्वयं नारायण हैं। यह वाक्य भारत मोक्ष धर्म में कहा है।

पञ्चरात्र के वक्ता भगवान् के होने पर भी 'तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं-सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः' इस वाक्य से नारद को कहा है। अतः परंपरान्तर में भी वही अर्थ होता है। इस प्रकार यहां भी जानना चाहिये। आगम की अपेक्षा लोगों का पुराण में विश्वास होता है। इसलिये श्रीभागवत को पुराणों में कहा है। इसमें भक्ति के साधन बतलाये गये हैं। जिस पुराण में भगवान् की दश लीलाओं का वर्णन होता है, उसे पुराण कहते हैं। इसलिये भागवत में सर्गादिरूपा दशलीलाओं का भी वर्णन है। यदि लीलाओं का निरूपण न होता, तो सुननेवाले का तत्तल्लीला में भाव न होने से, तत्तत्कर्मों का क्षय नहीं होता, तो फिर मोक्ष भी नहीं होता। अतः दशलीला पुराण लक्षणरूप भागवत में होने से पुराणों में इसका प्रवेश है। यदि कहो कि इसको पुराण क्यों कहा पूर्व सिद्ध वेद ही कहते। इसके उत्तर में एक अन्य भी प्रयोजन श्रीभागवत प्रकट करने का है। बुद्धावतार में भगवान् ने वेदों का निराकरण किया, अतः वेद पुराणार्थ रूप से रहेगा तो दैत्यावेशरहित सत्पुरुषों का इसके द्वारा सर्वकार्य सिद्ध हो जायगा, एतदर्थ भागवतपुराण कहा। वेदोक्त कर्म, द्रव्य, देश, काल, कर्ता, कर्म और मन्त्र, ये छह साधन शुद्ध होने पर सफल होता है। किन्तु कलियुग में छहो साधन किसी प्रकार से भी शुद्ध नहीं हैं, लोग भी अत्यन्त मलिन हैं, इसलिये वेद, स्मृति, पुराणों में प्रतिपादित सर्व-अर्थ बाधित हो गये हैं, श्री भागवत के अभ्यास से लोगों की मुक्ति होती है। 'ईश्वरः सद्यो हृद्यवरुद्धतेऽत्र कृतिभिः, शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्' 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ तस्मात् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्' इत्यादि वाक्यों से यदि वृत्त्यर्थ उपयोग न किया जाय तो श्रीभागवत का सुनना, कीर्तन करना तथा स्मरण करना, इन तीनों के अभ्यास से जीव का मोक्ष हो जाता है। वेदार्थ की अपेक्षा भी श्रीमद्भागवत में कहे गये अर्थ बलिष्ठ हैं। क्योंकि वेदादिकों में कहे अर्थ उक्त कालादि सापेक्ष हैं। भागवतार्थ तो नित्य, इसमें सबका अधिकार एवं सुलभ होने से कालादि साधन अपेक्षारहित सबसे अधिक फल देनेवाला है। 'तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र, सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान् नृणाम्' इत्यादि शुकवाक्यों से सर्वदेश सर्वकाल में इसकी कर्तव्यता बतलाई है।

'देवोसुरो मनुष्यो वा' इस सप्तमस्कंध के वाक्य से सर्वाधिकारिता, एवं 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु। मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्' इत्यादि उद्धव के प्रति एकादशस्कंध सप्तमाध्याय में भगवान् ने कहा, एवं एकादश बीसवें अध्याय में 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति' इत्यादि वाक्यों से सुलभ एवं यथेच्छ फल देनेवाला कहा है। यद्यपि ब्राह्म पाद्म आदि वैष्णव पुराणों में जगत्कर्तृत्वलक्षण ब्रह्म भगवान् का प्रतिपादन कर

स्वतन्त्रता से भगवान् का यश कहा है। तथापि शतकोटि विस्तीर्ण पुराण के सात्त्विक भाग का अन्य वैष्णव पुराणों में भी समसन रूप ही है। उसका अर्थ अनुभवपूर्वक नहीं है, समाधि का अभाव है। अतएव वैष्णव पुराणों में भी श्रीमद्भागवत समाधि भाषा होने से श्रेष्ठ है, इसीसे इसका माहात्म्य पुराणान्तरों में भी गीता माहात्म्यवत् दृष्टिगोचर होता है। इसमें अन्य पुराणों का नहीं कहा है।

श्रीभागवत को परिपक्व वेदफलरूपता 'निगमकल्पतरोः', इस वाक्य में कही गई है। अन्य पुराणों को नहीं कही गई, इस प्रकार प्रमाण प्रमेय साधन फल द्वारा श्रीभागवत की सर्वापेक्षया उत्कृष्टता निरूपण की गई है। अतः श्रीमदाचार्यों ने 'साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्। पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः' (तत्व० अ०२४१) भगवत्सेवा अथवा मुख्यसाधन सर्वदा श्री भागवत कीर्तन को कहा है। इसीसे सब फल की प्राप्ति होती है। कोई-कोई लोग कहते हैं कि भागवत वोपदेवकृत है। यह कहना सर्वथा असत्य है। यदि भागवत वोपदेवकृत होती तो इस पर वोपदेव स्वयं विचार क्यों करते? उन्होंने तो भागवत के श्लोकों के आधार पर ही 'मुक्ताफल' नाम का ग्रन्थ बनाया, जिसके ऊपर यदुवंशी देवगिरि के वंश में हुए रामराजा के मंत्री हेमाद्रि ने, 'कैवल्यदीपिका' नाम की टीका लिखी है।

वोपदेवकृत 'हरिलीला' नाम के ग्रंथ में भागवत के स्कंधप्रकरण अध्याय का सार लिखा है। जिसके ऊपर 'अद्वैतसिद्धि' लिखनेवाले मधुसूदन सरस्वती ने टीका लिखी है। इन दोनों ग्रन्थों में वोपदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण, गोपीजन, रासलीला, इन विषयों का संक्षेप में वर्णन किया है। मुक्ताफल में श्रीमद्भागवत के श्लोकों द्वारा भगवान् का स्वरूप अच्छी प्रकार समझाया है। भक्ति के विहिता, अविहिता दो प्रकार बतलाकर, इनके अवान्तर प्रकार भी कहे हैं। अविहिता भक्ति के चार प्रकार (१) कामजा, (२) द्वेषजा, (३) भयजा, (४) स्नेहजा कहे हैं। मुक्ताफल के ग्यारहवें अध्याय में विष्णुभक्त के लक्षण आदि बतलाये हैं एवं हास्य, शृङ्गार, करुण, रौद्र भयानक, बीभत्स, शान्त, अद्भुत, वीर, उक्त नव रस द्वारा भक्ति रस का ही नव प्रकार से अनुभव होता है। आगे शृङ्गार रस के दो प्रकार कहे हैं, संभोग तथा विप्रलंभ। इसके उदाहरण में भी भागवत के श्लोक 'वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और भ्रमरगीत दिये हैं। इनके द्वारा गोपीजनों का स्वरूप समझाकर भक्ति रस का अनुभव किस प्रकार हो सकता है इसका स्पष्ट निरूपण किया है। और यह भी कहा है कि भागवत में शृङ्गार रस के वर्णन का तात्पर्य भक्ति में है। यह वोपदेव का अभिप्राय है, इससे स्पष्ट होता है कि वोपदेव एक महान् विद्वान थे, उन्होंने श्रीमद्भागवत का अभ्यास सूक्ष्म दृष्टि से करके ग्रन्थ निर्माण किये थे, न कि भागवत। भागवत में (१) परमत-भाषा, (२) प्राकृत 'लौकिक' भाषा, (३) समाधि भाषा, इस प्रकार तीन भाषाएँ हैं। जिनका वर्णन सुबोधिनी में तत्तत्स्थल में किया गया है। श्रीआचार्यों ने समाधिभाषा प्रमाण में गणना की है। अन्य दो भाषा इसकी पोषक सहायक हैं। भक्तिमार्ग में प्रमेयस्वरूप श्री मद्भागवत में बारह स्कंध हैं, दशम स्कंध में ब्रह्मा के मोहवाला, पद्मपुराण के अन्तर्गत तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं। इसलिये 'द्वात्रिंशत् त्रिशतं च समग्र बारह स्कंधों में तीन सौ बत्तीस अध्याय हैं। आनन्दरूप भगवान् की सर्गादि दश प्रकार की लीलाओं का वर्णन श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध से लेकर बारहवें तक है। प्रथम स्कंध में अधिकार वर्णन एवं द्वितीय में साधन का वर्णन है। इस प्रकार श्री भागवतका अर्थ भगवान् है 'इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः। (निब० भा०) 'पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च' 'द्वादशांगो वै पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार बारह स्कंध परंब्रह्म के बारह अंग हैं, आगे इनका निरूपण होगा।

श्री मद्भागवत के बारहस्कंधों में सर्गादि लीलाओं का विवरण

स्कंध १ में	अधिकार	स्कंध ७ में	अतिलीला
स्कंध २ में	साधन	स्कंध ८ में	मन्वन्तरलीला
स्कंध ३ में	सर्गलीला	स्कंध ९ में	ईशानुकथा
स्कंध ४ में	विसर्गलीला	स्कंध १० में	निरोधलीला
स्कंध ५ में	स्थानलीला	स्कंध ११ में	मुक्तिलीला
स्कंध ६ में	पोषणलीला	स्कंध १२ में	आश्रयलीला

श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है 'द्वादशाङ्गोवै पुरुषः, श्रीगोवर्द्धननाथ का ही स्वरूप श्रीमद्भागवत है। इसका सविस्तर विवरण—

अंगनाम	स्कन्ध	लीला
दो चरण	(द०) १ (वा० (२)	अधिकार-ज्ञान
दो भुजा	(द०) ३ (वा० (४)	सर्ग-विसर्ग
दो जंघा	(द०) ५ (वा० (६)	स्थान-पोषण
दक्षिण हस्त	(७)	ऊति
दो स्तन	(द०) ८ (वा० (९)	मन्वन्तर-ईशानुकथा
हृदय	(१०)	निरोध
शिर	(११)	मुक्ति
वामहस्त	(१२)	आश्रय

इस प्रकार अर्थपूर्वक द्वादशाङ्ग पुरुष को जानने से प्रभु साक्षात् हृदय में पधारते हैं कोई-कोई विचारशील पुरुष पूर्व कहे स्वरूप में कुछ परिवर्तन बतलाते हैं। वह कहते हैं कि दशमस्कंध भगवान् का मुख है, ग्यारहवां श्रीमस्तक है।

अंग	स्कंध	लीला
मुख	(१०)	निरोध
श्रीमस्तक	(११)	मुक्ति
वामहस्त	(१२)	आश्रय

शेष पहिले की तरह

कोई उपासक क्रम से ही उपासना सफल होती है, इसलिये भिन्न क्रम कहते हैं—

अङ्ग	स्कंध	अङ्ग	स्कन्ध
दो पाद	१–२	दो जंघा	३–४
कमर	५	मलद्वार स्थान	६
		नरकतुल्य गुह्य	
उदर	७	हृदय	८
दो हाथ	९	मुख	१०
ललाट	११	मूर्धा	१२

यहां श्री आचार्य कहते हैं कि उपासनावालों को यह भी युक्त है, इससे ज्ञात होता है कि भक्तों को तो जो पूर्व में दो प्रकार कहे हैं वे ही उपयोगी हैं।

विस्तृत विवरण

प्रथमस्कंध में तीन प्रकार के अधिकारियों का वर्णन है हीन, मध्यम, और उत्तम, का।

स्कन्ध १	अधिकारी	श्रोता-वक्ता
हीनाधिकारी	मध्यमाधिकारी	उत्तमाधिकारी
अ. १–२–३	अ. ४–५–६	अ. ७–से १९

ऊपर कहे अनुसार प्रकरण १ में हीनाधिकारी श्रोता में जिज्ञासा, मात्सर्यरहित एवं श्रवण करने में आदर, ये तीन लक्षण हों, वक्ता में भागवतशास्त्र परंपरा से सुना हो, चतुरता और शुद्धज्ञान, ये तीन लक्षण हों, अर्थात् श्रोता-वक्ता में तीन-तीन अवश्य होने चाहिये, इस हेतु से तीन अध्याय से हीनाधिकारी श्रोता-वक्ता कहे गये हैं। श्रोता-वक्ता में उक्त प्रकार के लक्षण हों तभी सुनना-सुनाना हो सकता है।

मध्यमाधिकारी प्रकरण दूसरा

स्कन्ध १	अधिकारी	श्रोता वक्ता
अ० ४	अ० ५	अ० ६

मध्यमाधिकारी श्रोता-वक्ता के भी तीन लक्षण भगवत्कृपा, वैष्णव के लक्षण, भगवान में संपूर्ण प्रीति (स्नेह भक्ति) होनी चाहिये, यदि वक्ता श्रोता दोनों में उक्त लक्षण न हों तो भागवत सुनने-सुनाने का फल प्राप्त नहीं होता।

प्रकरण तीन में उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता का वर्णन तेरहवें अध्याय से किया है। इनको दृढ वैराग्य अर्थात् भगवान् बिना अन्य सर्व पदार्थ में राग का त्याग कर प्रभु में ही एक तान हो जाना। यह वैराग्य भक्तिमार्गीय है। यही यथार्थ दृढ वैराग्य है। इस वैराग्य से ही भगवान् में तत्परता होने से भगवान् श्रीपुरुषोत्तम द्वादश अङ्गवाले होने से तेरहवां अङ्गी पुरुषोत्तम मिलकर तेरह अध्याय द्वारा उत्तमाधिकारी का वर्णन किया गया है, अतः उक्त लक्षण जिसमें हों वह उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता है। इस प्रकार प्रथम स्कंध प्रकरणार्थ कहा।

द्वितीय स्कंध

यह स्कंध १० अध्याय का है, इसमें साधन का निरूपण है। इसमें प्रकरण तीन हैं, साधन तीन प्रकार के होते हैं, (१) तत्त्व ध्यान, (२) हृत्प्रसाद (३) और मनन, पहिला तत्त्व ध्यान प्रकरण है, जिसकी अ० १ में स्थूल ध्यान, अ० २ में सूक्ष्म ध्यान, (स्वरूपध्यान) द्वितीय साधन, हृत्प्रसाद प्रकरण में, अ० ३ में श्रोता का हृत्प्रसाद, अ० ४ में वक्ता का हृत्प्रसाद। तृतीय साधन मनन प्रकरण ३ में उत्पत्ति का वर्णन अ० ५–६–७ में है। 'अनित्येजननम्' इस कारिका के अनुसार अनित्य में जनन, परिच्छिन्न में समागम, एवं नित्य अपरिच्छिन्न में प्राकट्य होता है, यह आवेशी अथवा अवतार का होता है। अध्याय ८–९–१० में उपपत्ति है, जिसमें आशंका, उत्तर-फल का निरूपण है। इस प्रकार द्वितीय स्कंध हुआ।

तृतीय स्कंध निरूपण में सर्गलीला

यह स्कन्ध लौकिक-अलौकिक, सर्ग ३३ अध्याय से वर्णित है जिसमें बन्ध सृष्टि अ० १–से १९ तक और मुक्त सृष्टि अ० २० से ३३ तक कही गयी है। इस प्रकार लौकिक अलौकिक, दोनों प्रकार का सर्ग ३३ प्रकार का है। अतः ३३अध्याय हैं। अलौकिक सर्ग 'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ते एकत्रिंशं दिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति' (बृह० ३–९–२) उक्त बृहदारण्यक अनुसार आठ वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति, ३३ प्रकार का है, लौकिक सर्ग में अट्ठाईस तत्त्व, चतुर्विध भूतबीज, और काल, इस प्रकार तीस तत्त्व हैं,

श्रीशुकदेव मतानुसारी गुणाति सृष्टि अ० ६, सगुणसृष्टि अ० ३, कालसृष्टि अ०२, तत्त्वसृष्टि-जीव-सृष्टि अ० १, उक्त पांच प्रकार की है। इसके बंधमोक्षभेद से दश प्रकरण होते हैं। कालसृष्टि के दो अध्याय में स्थूल तथा सूक्ष्म काल दो प्रकार का कहा है। उसमें तत्त्व एवं अमुक्त जीव काल के आधीन होते हैं। अतः तत्त्वप्रकरण का काल में ही समावेश है। मुक्तजीवसृष्टि अ० १ में अनन्तर मुक्ति जीवसृष्टि का उपोद्घात सात अध्याय में कहा है, इस प्रकार १९ अध्याय में बन्धसृष्टि का वर्णन है। (मुक्तसृष्टि) प्रकरण ६ में तत्त्वमुक्ति का वर्णन अ० २० से २४ तक कहा है। प्रकरण ७ कालमुक्ति अ० २५ में प्रकरण ८ गुणातीतमुक्ति अ० २६।२७।२८ में। प्रकरण ९ सगुणमुक्ति अ० २९ में। प्रकरण १० जीवमुक्ति अ० ३०।३१ में। अनन्तर २ अध्याय में स्त्रीमुक्ति का वर्णन है। इस प्रकार १४ अध्याय का मुक्तिलीला प्रकरण है। इस प्रकार बन्धसृष्टि में १९ और मुक्तसृष्टि में १४ अध्याय मिलकर ३३ अध्याय से सर्ग का वर्णन है। तृतीयस्कंध का प्रकरण विभाग मैत्रेयमतानुसारी पृथक् है जिसमें चार प्रकरण का वर्णन है।

(१) अधिकार प्रकरण, (२) सृष्टि प्रकरण, (३) उपपत्ति प्रकरण, (४) फल प्रकरण। अधिकार तथा सृष्टि प्रकरण दोनों में १२ अध्याय हैं। उपपत्ति प्र० अ० १ में मोक्ष। अ० १४ से २० तक बन्ध का निरूपण है। चौथे फलप्रकरण में भक्ति, सांख्य और योग का वर्णन है। भक्ति में पुंमुक्ति का अ० २१ से २४ तक वर्णन है और मुख्य भक्ति–सफलाभक्ति का अ०२५ में वर्णन है। सांख्य का अ० २६–२७ में। योग का अ० २८।२९ में। वैराग्य सर्वनिर्धार और मुक्ति का वर्णन अ० ३० से ३३ तक है। सूक्ष्म विचार से दश विभाग हो सकते हैं। इस प्रकार शुकदेव जी के स्थूल अभिप्राय से पांच प्रकरण तथा सूक्ष्म विचार से दश प्रकरण मिलकर पंद्रह प्रकरण होते हैं। मैत्रेय के स्थूल अभिप्राय से चार प्रकरण तथा सूक्ष्म विचार से दश मिलकर १४ प्रकरण होते हैं, इस प्रकार तृतीय स्कन्ध का प्रकरण विभाग है।

चतुर्थ स्कन्ध : विसर्गलीला

बृहदारण्यक में १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसु, देवताओं का इकतीस प्रकार का अलौकिक विसर्ग कहा है, अतः चतुर्थ स्कन्ध में ३१ अध्याय हैं। भगवान् के माहात्म्य का बोध कराने वाले को विसर्ग कहते हैं। अर्थात् भगवान् का पौरुष। जब भगवान् पुरुषार्थ का दान करते हैं, तभी माहात्म्य ज्ञान अच्छी प्रकार से होता है। पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार प्रकार का है। इसी बात को सूचन करने के लिये चतुर्थ स्कन्ध में चार प्रकरण हैं। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, धर्म प्रकरण अ० १ से ७ तक। अर्थ प्रकरण अ० ८ से १२ तक। काम प्रकरण अध्याय १३ से ३३ तक। मोक्ष प्रकरण अ० २४ से ३१ तक है। काम प्रकरण में अवान्तर पृथु का आविर्भाव प्रकरण, सर्वकाम प्रकरण, स्वकाम प्रकरण, तीन प्रकरण हैं। मोक्ष प्रकरण में भी अवान्तर 'ब्रह्मभाव प्र०' २४ से २८ तक। सायुज्य प्र० २९ से ३१ तक तीन अध्याय का है। इस प्रकार चतुर्थ का प्रकरण विभाग है।

पञ्चम स्कन्ध : स्थानलीला

'स्थितिर्वैकुण्ठविजयः' विजय—स्वाधीन करना, सर्वपदार्थों को मर्यादापूर्वक स्थापन करना, इसको स्थान कहते हैं। प्राकृत पदार्थों के ऊपर चौबीस प्रकार से जय करना है। क्योंकि प्राकृत पदार्थ २४ हैं, अध्याय १ से २४ प्राकृत पदार्थ का, इनका जय। आत्मजय दो प्रकार है, जीव तथा ब्रह्म। अ० २५-२६। इस प्रकार २४ प्राकृत तथा दो अप्राकृत मिलकर २६ संख्या । अतः स्थान निरूपण में २६ अध्याय हैं। यह रूढार्थ हुआ। अब यौगिकार्थ द्वितीय पक्ष में

स्थान शब्द का अर्थ 'स्थीयतेऽस्मिन्' इति स्थानम् । इस पक्ष में देश भूर्भुवः स्वः त्रिलोकात्मक है। अतः अध्याय ३ में देश का निरूपण है। मास १२, ऋतु ५, लोक ३, आदित्य १। स्वरूपस्थिति जीवात्मा, परमात्मा दो। उक्त पक्ष में इन तीनों में एक ही समय भगवान् स्थित हो सकते हैं। स्थूल विचार से दो प्रकरण हैं। स्वरूपस्थिति तथा देशस्थिति, प्रकरण १ भगवत्स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० १ से ६ पर्यन्त है। प्रकरण २, योग से स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० ७ से १४ तक किया है। प्रकरण ३ ज्ञान द्वारा स्वरूपस्थिति का वर्णन अ० १५ में किया है। इस प्रकार स्वरूपस्थिति के १५ अध्याय हुए। देशस्थिति में देश (भूर्भुवः स्वः अर्थात् भू, अन्तरिक्ष, स्वर्ग) तीन प्रकार का होने से अवान्तर तीन प्रकरण हैं। प्रकरण ४ पञ्चभूतों में प्रधान होने से भूमि का वर्णन अध्याय ५ में अर्थात् १६-१७-१८-१९-२० में किया है। प्रकरण ५ इसमें तीन गुण प्रधान होने के कारण भुवर्लोक का तीन अ० २१-२२-२३ में किया है। प्रकरण ६ स्वर्लोक में भी तीन गुण प्रधान हैं, अतः इसका भी तीन अध्याय २४।२५।२६ में निरूपण है। इस प्रकार देश-स्थिति में ११ अध्याय हुए। स्वरूपस्थिति तीन प्रकार की है। तथा देशस्थिति तीन प्रकार की मिलकर ६ प्रकार होने से ६ प्रकरण स्थानलीला के पञ्चम स्कन्ध में कहे गये हैं।

षष्ठ स्कन्ध : पुष्टिलीला

'पोषणं तदनुग्रहः' इस वाक्य से पोषण भगवदनुग्रह अथवा भगवत्कृपा को कहते हैं। 'कालादिबाधकः अनुग्रहापरनामा वीर्यविशेषरूपो भगवद्धर्मः' काल, कर्म, स्वभावादि का बाध करने वाला, अनुग्रह जिसका दूसरा नाम, ऐसा वीर्य विशेषरूप भगवद्धर्म का नाम पुष्टि शब्द से कहा जाता है। यह अनुग्रह जहां भगवन्नाम लिया जाता हो तथा भगवान् का ध्यान जहाँ किया जाय तथा जहां भगवान् का अर्चन होता हो, वहां दीखता है। यद्यपि अनुग्रह स्वतन्त्र है तथापि उक्त तीनों प्रकार निमित्तमात्र हैं। इसलिए इन्हीं की अनुग्रह के व्यापार में गणना हो सकती है। इसी से षष्ठ स्कन्ध में तीन प्रकरण (१) नाम, (२) ध्यान, (३) अर्चन हैं। नाम श्रवण से तथा कीर्तन, स्मरण द्वारा लिया जाता है। अतः इसके अ० ३ हैं। ध्यान में रूप की मुख्यता होती है। रूप चौदह गुण वाला होता है। अतः ध्यान प्रकरण का १४ अध्याय में वर्णन है। चौदह धर्म नीचे लिखे प्रमाण से हैं।

'रूपेण मोक्षदः प्रोक्तः रसेनानन्ददायकः। गन्धेन भक्तिदः प्रोक्तः स्पर्शेनाखिलतापनुत् ॥ मनोहर-स्तु नादेन योगेनात्मप्रवेशदः[1]। हीनभावाद्दुःखदश्च केवलः सकलार्थदः ॥ मितोयोगप्रदः प्रोक्तो भिन्नोमृत्युप्रदः स्मृतः। यथास्थितो ज्ञानदश्च स्नेहाद्वश्ये भवेद् ध्रुवम् ॥' अर्थात् भगवान् १ रूप द्वारा मोक्षदायक, २ रस द्वारा आनन्ददायक, १ गन्ध द्वारा भक्तिदायक और ४ स्पर्श द्वारा सर्वताप दूर करने वाला है। (५) नाद (शब्द) द्वारा मन को हरने वाला, (६) योग द्वारा आत्मा में प्रवेश कराने वाला, (७) द्वेषभावना से काल में मोक्षप्रद, (८) तथा स्वामी मानने से सर्वसुखप्रद, ९ हीनपने से भावना करने पर दुःख देने वाला, (१०) केवल भावना करने से सर्वपुरुषार्थ का दान। (११) ज्ञान विषय किया योगप्रद, (१२) एवं द्वैत भावना से देखनेवाले को मृत्यु देनेवाले, (१३) यथास्थित भावना करनेवाले को ज्ञानप्रद, (१४) स्नेह से निश्चय वश में हो जाते हैं। ध्यान प्रकरण में रूप चौदह गुणवाला होने से १४ अध्याय में वर्णन है। तीसरा अर्चन प्रकरण, अर्चन बाह्य, और आभ्यन्तर दो प्रकार का है। इसका वर्णन अ० २ से किया है। इस प्रकार १९ अध्याय से पुष्टिलीला का निरूपण है। यह प्रकरणार्थ

१. कालमोक्षप्रदो द्विष्टः स्वामी सर्वसुखप्रदः।

कहा। स्कन्धार्थविचार से पुष्टि कर्म, काल और स्वभाव का बाध करती है। इन तीनों को दूरकर अपना प्रभुत्व करती है। कर्म पांच प्रकार का है। (१) अधिष्ठान, (शरीर) (२) कर्ता (जीव), (३) करण, इन्द्रिय बाह्य-आभ्यन्तर, (४) चेष्टा (प्राणादिवायु की), (५) दैव (काल-कर्म-भगवदिच्छा अन्तर्यामी, मुख्य प्राण के सहायभूत इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता आदि) इस प्रकार कर्म वर्णन में पांच अध्याय हैं। कालाद्वादशमासात्मक होने से (इसके १२ महीना होने से) १२ अध्याय हैं। स्वभाव दैव और आसुर दो प्रकार है, इसका दो अध्याय से निरूपण है। इस प्रकार भगवदनुग्रह उक्त कालादि सर्व का बाधक होने से स्कन्धार्थ विचार से १९ अध्याय कहे गये हैं। दोनों अर्थों से १९ अध्याय द्वारा षष्ठ स्कन्ध पोषणलीला का वर्णन कहा गया।

सप्तम स्कन्ध : ऊतिलीला

ऊति को कर्मवासना कहते हैं। यह शरीर तथा कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी सद्धर्म, वासना उत्पन्न करता है, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण का सद्धर्म, वासनाजनक नहीं है। षष्ठ स्कंध में पुष्टिलीला का निरूपण किया गया है। इसमें भगवान् ने किसी के ऊपर सामान्य, किसी के ऊपर विशेष अनुग्रह, पात्रापात्र का विचार किये बिना ही स्वेच्छानुसार किया है। क्योंकि अनुग्रह स्वतन्त्र है। भगवान की इच्छाशक्ति के अधीन है। उक्त पक्षपात करने से भगवान् को विषमता दोष प्राप्त होता है, उसे दूर करने के लिये आपकी की हुई मर्यादा द्वारा फल देने के लिये सप्तम स्कंध है। जैसी जिसकी वासना, वैसी वासना का उसको अमुक फल मिले, यह भगवान् ने शास्त्र में मर्यादा बाँधी है। इसके पालन का वर्णन सप्तम स्कंध में है। कर्म के आध्यात्मिक आदि तीन भेद हैं। कर्म अविद्या द्वारा होता है। अविद्या के पांच पर्व है। देहाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास, इन्द्रियाध्यास तथा स्वरूप का अज्ञान, उक्त पांच प्रकार होने से, आध्यात्मिक आदि तीनों भेदों को पांच से गुणाकर, १५ अध्याय होते हैं। वासना भी कर्मजन्य होती है। और वह (१) सद्वासना, (२) असद्वासना, (३) और मिश्रभावना तीन प्रकार की है। उक्त वासना कर्मजन्य होने से पहिले कहे क्रमानुसार पांच प्रकार तथा आध्यात्मिकादि भेद द्वारा पांचों के गुणन से पन्द्रह अध्याय हो जाते हैं। अथवा अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, दैव, ये पांच प्रकार गुणकर पन्द्रह अध्याय होते हैं।

अष्टम स्कन्ध : मन्वन्तरलीला (सद्धर्म)

सद्धर्म तीन प्रकार से होता है। शरीर से, वाणी से और मन से। शरीर से किया धर्म दश प्रकार का है। वाणी से भी किया धर्म दश प्रकार का है। इसमें इन्द्रियों की भी गणना है। मानस चार प्रकार का है। इसमें अन्तःकरण की भी गणना है। क्योंकि अन्तःकरण में इष्ट का चिन्तन करता है। इष्ट को अवाप-उद्वाप से विचार करता है। अर्थात् इष्ट में अनुकूल का स्वीकार कर प्रतिकूल का त्याग कर, इष्ट को शुद्ध स्वरूप में विचारता है। इष्ट की आशा रखता है। इष्ट को करूँगा, इस प्रकार निश्चय करता है। इस प्रकार अन्तःकरण में चार प्रकार की व्यवस्था के कारण मानसधर्म चार प्रकार का है। सर्वइन्द्रियों द्वारा सद्धर्म करना कहा है, अतः वीर्य तथा अपान के रोकने से नीचे की दोनों इन्द्रियों को धर्महेतुता है। शेष सहायक हैं। आश्रय, आदान, तृप्ति, प्रजनन, जाड्य, ताप, निर्बन्ध, दूरीकरण तथा शब्दादि, दान से सद्धर्म शरीर में दश प्रकार से होता है। इस प्रकार सद्धर्म के चौबीस भेद द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी में कहे गये हैं। 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' इस वाक्यानुसार मन्वन्तर धर्मप्रवर्तक है। अतः सत्पुरुषों का धर्म निरूपण करके सद्धर्म दिखाने को अष्टम स्कन्ध में, पूर्व सप्तम स्कन्ध में निरूपित वासनाओं को नष्ट करने को सद्धर्म का निरूपण है। प्राकृतगण चौबीस प्रकार का है।

उसमें उत्पन्न हुई वासनाओं के नाश करने में सर्वथा सामर्थ्य द्योतन करने के लिये सद्धर्म निरूपण में चौबीस अध्याय अष्टम स्कंध में कहे हैं। इसमें चार प्रकरण हैं। आपत्ति में हरिस्मरण, सम्पत्ति में सर्वदान और स्वयं कहे हुए धर्म का निर्वाह, उक्त तीन प्रकरण मुख्य हैं। तीन प्रकार के धर्म का वक्ता भगवान् के मत्स्यावतार के चरित्र का निरूपण करनेवाला चौथा प्रकरण है। (१) हरिस्मरण प्रकरण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक है, अतः चार पुरुषार्थ साधक हरिस्मरण प्रकरण में अध्याय ४ हैं। (२) दानकर्ता तथा दान लेनेवाला पात्र, दोनों सत्त्व, रज, तमोगुण वाले होने से एवं परस्पर मिले हुए तीनों गुणों के नव भेद होते हैं, दसवां निर्गुण मिलकर दस प्रकार का दानदाता तथा दस प्रकार का दानगृहीता होता है। अतः सर्वदान प्रकरण में १० अध्याय हैं। (३) स्वोक्त निर्वाह प्रकरण में दान साधन रूप है, उक्त सगुणदान नव प्रकार का है। इसलिये नव अध्याय से कहा है। एक निर्गुण है, धर्मवक्ता भगवान् मत्स्यावतार एक प्रकार का है, इसलिये इनका चरित्र एक अध्याय में वर्णन है। इस प्रकार सद्धर्म का चौबीस अध्याय में निरूपण किया है।

नवम स्कन्ध : ईशानुकथा (भक्ति लीला)

अष्टमस्कंध में सद्धर्म द्वारा वासना नष्ट होने पर जीव की भगवान् में शुद्ध वासना होती है। यह शुद्ध वासना स्वतः ही होती है। इसके अनन्तर ईशानुकथा (भक्ति) नवम स्कंध में कही गयी है। 'अवतारानुचरितं हरेरस्यानुवर्तिनाम्' इस वाक्यानुसार हरि तथा हरि के अनुवर्ति (भक्त) चरित्र का वर्णन है। हरि शब्द का अर्थ दुःखनिवारक सुखप्रापक होता है। दुःख निवारण, अनुवर्तियों के गुणभेद से नवप्रकार का है। ईश का चरित्र भी कर्म, ज्ञान, भक्ति, इन तीन भेदों से तीन प्रकार का है। अविद्या रूप दुःख को दूर करनेवाला तदनुवर्ती ज्ञानी एक प्रकार का अध्याय १ में कहा है, इस प्रकार दुःख दूर करने में अध्याय १३ हैं। सुखप्रापण प्रकरण में अनुवर्ति दश प्रकार के सर्वइन्द्रियों का सुख भोगते हैं। एक प्रकार के भगवान्, सब मिलकर ११ एकादश अध्याय दूसरे प्रकरण में होते हैं। इस प्रकार चौबीस अध्याय हुए। (निष्कर्ष) ईशानुकथा दो प्रकार की है। एक ईश की, दूसरी इनके अनुसरण करनेवालों की। भगवान् प्रकट होकर सब प्राणियों के दुःख दूर करते हैं। उसी प्रकार भगवदीय भी प्राणियों के दुःख दूर करते हैं। यह 'अनु' शब्द सूचित करता है। अतः भगवदीय की कथा 'अनुकथा' कही जाती है। हरि शब्द दुःख दूर करना तथा सुख देना, सूचन करता है (सुबो०) यह स्कंध विचार कहा। अब प्रकरण विभाग नवम स्कंध में इस प्रकार है। मूल में प्रकरण दो हैं। प्र० १ सूर्यवंश, प्र० २ चन्द्रवंश, सूर्यवंश में द्वादशात्मा भगवान् प्रकट हुए। इनके वंशबीजभूत सूर्य के भी द्वादशात्मक होने से सूर्यवंश का निरूपण १२ अध्याय से कहा है। 'चन्द्रवंश भी समान है, जघन्य नहीं है इसका बोध करने के लिये १२ अध्याय से ही चंद्रवंश का निरूपण है। स्कंध के प्रथमाध्याय में चंद्रवंश का बीजाङ्गभूत पुरूरवस राजा का वर्णन होने से यह अध्याय मुख्य चंद्रवंश का अंग है। इसलिये चंद्रवंश के भी १२ अध्याय हैं। अथवा पूर्वोक्त प्रकार से सूर्यवंश १३ अध्याय में, चंद्रवंश ११ अध्याय में कहा है। इस प्रकार २४ अध्याय में नवम स्कंध है।

दशम स्कंध : निरोधलीला

प्रथम निरोध—श्री वल्लभाचार्य ने निरोध शब्द का अर्थ एक प्रलय ही नहीं किन्तु 'प्रपञ्च में श्रीकृष्ण की क्रीडा, प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की श्रीकृष्ण में एवं श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति' और भक्तोंका प्रपञ्च-प्रलय, इस प्रकार तीन अर्थ माने हैं। तीनों अर्थों की परस्पर सङ्गति भी है। श्रीभागवत में निरोध का अर्थ 'निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः' अर्थात् श्रीपुरुषोत्तम का शक्तियों के साथ 'अनुशयन' निरोध कहलाता है। आत्मनः पद का अर्थ निर्गुण परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् है। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' इस श्रुति में कृष् का अर्थ सत्ता अर्थात् नित्यसत्ता, 'ण' का अर्थ है नित्य सुख, अर्थात् जिसमें दुःख मिला नहीं, एवं निरुपाधिक परिणाम विरसतारहित सुख। सत्ता और सुखकी एकता भेदरहित स्थिति, पटतन्तुवत् सुख सत्ता तादात्म्य, जिस प्रकार तन्तुओं में पट दीखता है, तन्तु-पट न्यारे-न्यारे दृष्टिगोचर ग्रहण करने में नहीं आते, उसी प्रकार सुख में सत्ता स्फुरद्रूप सर्वतोमुखी दीखती है और सत्ता में सुख स्फुरद्रूप एवं समास्तृत दीखता हो, एक के ग्रहण करने से दोनों का ग्रहण हो, इस प्रकार की एकता का नाम कृष्ण है। इस प्रकार की सत्ता तथा इस प्रकार के सुख की एकता आत्मा में ही अनुभव होती है अन्यत्र नहीं। इसीलिये आत्मा का नाम कृष्ण है। क्योंकि आत्मा कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वह तो केवल सत्ता और सुख की भेद-रहित स्थिति है, सत्ता तथा सुख आत्मा के धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्मा का स्वरूपधर्मी है। इस लिये श्रीकृष्ण आत्मा है। जीवात्मा भी भगवान् का अग्निविस्फुलिंगन्याय से अंश होने के कारण आत्मा कहा जाता है। वास्तव में आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। उक्त श्रीकृष्ण परमात्मा का अपनी शक्तियों के साथ अनुशय ही निरोध है। अनु-अनुरूप-अनुकूल, शयन-स्थिति-अर्थात् परमात्मा श्रीकृष्ण की लीलाओं के अनुरूप-अनुकूल स्थिति का नाम 'अनुशयन' है। यहां शीङ् धातु का अर्थ स्थिति है। निद्रा नहीं। 'विष्णुः सर्वगुहाशयः' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है। क्योंकि निद्रा अविद्या की वृत्ति है, और उक्त वाक्य में गुहाशय शब्द से सर्वसाक्षी अर्थ अभिप्रेत है। यदि शीङ का अर्थ निद्रा मान लिया जाय तो सर्वसाक्षी अर्थ न हो सकेगा, अतः शयन शब्द का अर्थ स्थिति है। स्थिति का प्रयोजन सर्वोद्धारार्थ लीला है। स्थिति भी एक लीला है, यह अनेक प्रकार की लीलाओं की विधात्री है, सर्व लीलाओं की मूल स्थिति लीला ही निरोध पद का अर्थ है। वह भगवान् का धर्म है—गुण है-स्वभाव है। श्रीकृष्ण का स्वभाव देव है कि वे सर्वोद्धार के लिये लीला करने को दुनियां में हममें-तुममें रहने लगते हैं। तथा तुम-हम जैसा वर्ताव वर्तने लगते हैं, तुम्हें हमें सर्वजगत् को प्रकृति सम्बन्ध से छुटाकर अपने स्वरूप सुख का, अपनी सेवा का और अपनी लीलाओं के द्वारा अतुलित अनन्तानन्त आनन्द प्रदान करते रहते हैं। भगवान के उक्त स्वभाव का नाम निरोध है। उक्त स्वभाव (देव) पूरा करने को ही इस दुनियां में पधारते हैं। यदि कहो कि वैकुण्ठ धाम में स्वरूपानन्द का दान करते ही हैं, वहीं स्वभाव की पूर्त्ति हो जाती है, यहां पधारने की क्या आवश्यकता है—इसका उत्तर ठीक है भजनानन्द का दान तो करते रहते ही हैं, किन्तु सर्वोद्धारार्थ लीला के अनुरूप स्थिति आप वहां नहीं कर सकते, क्योंकि वहां तो सब उद्धार किये हुए ही होते हैं—वहां किसका उद्धार किया जाय? अतः उद्धारार्थ तो प्रपञ्च में आना ही पड़ता है। यहां पधार कर हम जैसी आकृति-रूप-स्वभाव बनाकर अपने अद्भुत दिव्य अगम्य अलौकिक प्रभाव से, अनिर्वचनीय माधुर्य-सौन्दर्य आदि से कृतार्थ-परिपूर्ण कर देने पर ही आपको चैन-आनन्द आता है। इसीलिये श्री वल्लभाचार्य ने सु० बो० कारिका 'निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्' अर्थात् समस्त चराचर प्रपञ्च के सर्वदुःखहरण उद्धार के लिये प्रपञ्च में प्रादुर्भूत निर्गुण परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान् की, अपनी अचिन्त्य दिव्य अप्राकृत शक्तियों के साथ प्रपञ्च में क्रीडा का नाम ही अनुशयन है। और यही निरोध का लक्षण है।

द्वितीय निरोध—

प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की श्रीकृष्ण में एवं श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति, नितरां रोधोनिरोधः, इस यौगिकार्थ व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ का बोध होता है। नितरां सर्वथा रोधः मन

का रुक जाना। पहले प्रपञ्च में जो मन आसक्त था, उसे भूलकर वह एक श्रीकृष्ण ही के स्वरूप में, इनकी लीलाओं में, गुणों में आसक्त हो जाना द्वितीय निरोध है। जबतक मन का निरोध नहीं, तबतक केवल हठ से इन्द्रियों का रोधकर बैठने का नाम निरोध नहीं, उसकी तो श्रीभगवद्गीता में निन्दा की है। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' अर्थात् जो साधक हस्त-पादादि पञ्च कर्मेन्द्रियों को रोककर—मन से इन्द्रियों के विषयों का स्मरण करता रहता है, वह विमूढ है, उसका आचरण मिथ्याचार, यथार्थ नहीं है। अतः निरोध शब्द में नि, उपसर्ग उक्तार्थ का सूचक है। श्रीभरताचार्य ने व्यसनदशा को प्राप्त हुई आसक्ति को ही निरोध कहा है। 'या तु व्यसनसंप्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते' इस प्रकार की प्रपञ्च विस्मृति-पूर्वक व्यसनदशा को प्राप्त भक्तों की भगवान् श्रीकृष्ण में आसक्ति का ही वर्णन तो दशम स्कंध में है। 'इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा। कुर्वन्त्यो रममाणाश्च नाऽविन्दन् भववेदनाम्॥ शय्यासनाटनालापस्नानक्रीडाशनादिषु। न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णदेवताः' इत्यादि श्लोकों द्वारा आसक्ति का वर्णन स्फुट है। उक्त योग मर्यादा से निरोध शब्द का अर्थ यह भी होता है कि 'अपने भक्तों में प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की आसक्ति' जैसे भक्त भगवान् के वश में हो जाते हैं 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्' एक क्षण भगवान् के बिना सौ युग की तरह हो जाता है। वैसे ही 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि' भगवान् को भी भक्तों के बिना चैन नहीं पड़ता, इसी अर्थ को उक्त दशम स्कंध के मङ्गलाचरण द्वारा पुष्ट किया गया है। 'नमामि हृदये शेषे' इसमें भक्तों का हृदय शेषनाग है, उसमें अनुभव होती हुई लीलाएँ ही क्षीर-समुद्र हैं, उस समुद्र में श्रीभगवान् स्थित हैं, अर्थात् अन्यत्र गतिरहित हैं। सहस्र-सहस्र लक्ष्मियों के विलासों से आप सेवित हैं। मैं उनको प्रणाम करता हूं। इस प्रकार परस्पर आसक्ति वाला द्वितीय निरोध है।

तृतीय निरोध—

'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते' जिस परमात्मा से इस प्रपञ्च का जन्म-प्रलय होता है, वह परब्रह्म आश्रयपदवाच्य है। उक्त वाक्य में निरोध शब्द का अर्थ प्रलय भी कहा है। नवम स्कन्ध का अर्थ ईशानुकथा, भगवद्भक्तों की कथा है। और दशम स्कन्ध का अर्थ निरोध, प्रपञ्च का प्रलय है। दोनों स्कन्धों की अर्थसङ्गति विचारने पर सिद्ध हुआ कि भक्त सम्बन्धी प्रपञ्च का प्रलय। इसी से द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी में 'भक्तानां प्रपंचाभावो निरोधः' भक्तों के प्रपञ्च का अभाव—प्रलय निरोध शब्द का अर्थ कहा है। अन्यत्र भी 'प्रपञ्चस्य प्रलय-स्तिरोधानम्' प्रपञ्च का प्रलय अर्थात् तिरोधान। यह श्रीकृष्ण की नित्य लीला में प्राप्ति होने के लिये परमापेक्षित है। नित्य अप्राकृत अलौकिक सच्चिदानन्दमय देह के बिना नित्य लीला में प्रविष्ट होना असम्भव है। अतः प्राकृत गुणमय विनाशशाली देहरूपी प्रपञ्च का प्रलय-तिरोधान होना अत्यावश्यक है। इस प्रकार निरोध शब्द के तीन अर्थ हुये। 'प्रपञ्च में श्रीकृष्ण की क्रीडा' प्रथम। 'प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की आसक्ति श्रीकृष्ण में, और श्रीकृष्ण की भक्तों में आसक्ति, दूसरा। 'प्राकृत गुणमय विनाशशाली प्रपञ्च का तिरोधान—प्रलय होकर निर्गुण अप्राकृत गुण-परिपूर्ण श्रीकृष्ण की नित्य लीला में प्रवेश होने के लिये, नित्य अप्राकृत अलौकिक सच्चिदानन्दमय विग्रह देह की प्राप्ति, इन तीनों का परस्पर कार्यकारणभाव है। प्रथम निरोधकरण निरोध है। द्वितीय निरोध व्यापार निरोध है। तृतीय निरोध कार्य-फल निरोध है। करण को कारण कहते हैं। कारण-कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उपस्थित हो एवं कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित हो, और कार्योत्पादक व्यापार कर रहा हो। जैसे घड़ा की उत्पत्ति के पहिले चाक होता है, बिना

चाक के घड़ा बनता नहीं है। चाक यदि घूमता हुआ न हो तब भी घड़ा नहीं बनेगा। व्यापार—जो कारण से उत्पन्न होकर कार्य की उत्पत्ति में खास सहायक हो, उसे कहते हैं। जैसे चाक का घूमना (घूमना चाक से उत्पन्न होकर चाक से बननेवाले घड़े की उत्पत्ति में प्रधान सहायक है। कार्य-फल, जो वस्तु कारण से तथा उसके व्यापार से तैयार हो। जिस प्रकार कोई कर्ता अपने करण औजार आदि को लेकर उसमें व्यापार उत्पन्न करके कार्य तैयार करता है, ठीक उसी तरह परम कृपालु निर्गुण परंब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान् अपनी विचित्रातिविचित्र मधुराति-मधुर परम विमोहन विशिष्ठ लीलाओं से व्यापारस्थानापन्न प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक भक्तों की आसक्ति अपने में और अपनी आसक्ति उसी प्रकार की भक्तों में उत्पन्न करते हुये अपनी नित्य लीला में प्रवेशोपयोगी देह देकर भक्तों के प्राकृत प्रपञ्च का प्रलय तिरोधान करते हैं। उक्त तीन प्रकार की निरोधलीला का वर्णन दशम स्कन्ध में है जिसके प्राप्त होने पर जीव कृतकृत्य हो जाता है। श्रीधरस्वामी ने निरोध का अर्थ आश्रय कहा है। वोपदेव का तात्पर्य दुष्ट राजाओं का नाश है। श्री वल्लभाचार्य ने दोनों मतों का विचार सुबोधिनी एवं भागवतार्थ में किया है और दशम स्कंध का तात्पर्य निरोध में ही है, सिद्ध किया है।

दशमस्कंध में कुल ९० अध्याय हैं, जिसमें १२।१३।१४ तीन अध्याय प्रक्षिप्त पद्मपुराण में कही हुई लीला के हैं। इनको बाद कर ८७ अध्याय हुये, इन सबके दो विभाग, पूर्वार्ध-उत्तरार्द्ध, किये गये हैं। पूर्वार्ध में १ से ४६ अध्याय हैं। उत्तरार्ध में ४७ से ८७। अर्थात् ४१ अध्याय हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने विषयानुसार अध्यायों के प्रकरण किये हैं जिनका कोष्ठक आगे दिया है।

प्रकरण संख्या	अध्याय	प्रकारण का नाम	अध्याय संख्या
(१)	१—४	जन्म	४
(२)	५—११	तामस प्रमाण	२८
	१२—१८	,, प्रमेय	
	१९—२५	,, साधन	
	२६—३२	,, फल	
(३)	३३—३९	राजस प्रमाण	२८
	४०—४६	,, प्रमेय	
	४७—५३	,, साधन	
	५४—६०	,, फल	
(४)	६१—६७	सात्त्विक प्रमेय	२१
	६८—७४	,, साधन	
	७५—८१	,, फल	
(५) गुण	८२—८७	धर्म	६

इस प्रकार दशम स्कन्ध में पांच प्रकरण हैं, इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

चार अध्याय का जन्म प्रकरण है। भगवान चतुर्मूर्त्ति हैं। निबन्ध में 'चतुर्मूर्त्तिर्हरि-र्जातः, तेनाध्यायचतुष्टयम्'। प्रथमे वासुदेवोऽभूत् वसुदेवहृदिस्थितः॥ मृत्युवारणसामर्थ्यमन्यथा न भवेत् क्वचित्॥ संकर्षणो द्वितीये तु स्फुटो दैत्यवधाय हि तथा तृतीये प्रद्युम्नश्चतुर्थस्तुर्य उच्यते। न निबद्धो यतः कैश्चिदतः सर्वे विमोचिताः' अध्याय १, वासुदेव। अ० २, संकर्षण। अ० ३,

प्रद्युम्न । अ० ४, अनिरुद्ध । उक्त चारो व्यूहों का क्रमशः प्राकट्य चार अध्याय में कहने के कारण जन्मप्रकरण में चार अध्याय हैं। सामान्य नियम यह है कि भक्त को दुःखी देखकर भगवान प्रकट होते हैं। भक्त का दुःख भगवान् के प्रकट होने में कारण है। अतः प्रथम अध्याय में भगवान् के प्राकट्य का हेतु वर्णन किया है। भक्त-दुःख निवारणार्थं उद्यम दूसरे अध्याय में, रूपान्तर स्वीकार, मनुष्यवत्-प्राकृत आकृति के स्वीकार का वर्णन तीसरे अध्याय में, नटभाव चतुर्थाध्याय में कहा है। इस प्रकार ४ अध्याय से जन्म प्रकरण कहा है।

दूसरा तामस प्रकरण। तामस प्रकरण में तामस भक्तों का अपने में तदनुकूल लीलाओं से निरोध करना है। भक्त—तामस, राजस और सात्त्विक, तीन प्रकार के हैं। उनमें प्रथम तामस भक्तों को प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल, द्वारा निरोध २८ अध्याय से करेंगे। अनन्तर राजसभक्तों का प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल द्वारा निरोध २८ अध्याय से करेंगे। आगे सात्त्विक भक्तों का प्रमेय, साधन फल द्वारा निरोध २१ अध्याय से करेंगे। सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती अतः इसमें तीन ही हैं।

तामस प्रकरण में अवान्तर ४ प्रकरण हैं। प्रथम तामस प्रमाण अ० ७ में है। नन्दादिकों ने सात अध्याय में प्रमाण की अपेक्षा की है। अतः इसे प्रमाण प्रकरण कहते हैं। इन सात अध्याय में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः भगवद्धर्मों का वर्णन छः अध्याय में है। सातवें में उक्त धर्म सहित धर्मी का वर्णन, जिनके द्वारा निरोध सिद्ध हुआ है। इसका विशेष स्पष्ट विचार किया जाय तो मालूम होता है कि प्रथम में ५ वें अध्याय में भगवान् ने अपना ऐश्वर्य दिखाया है। दूसरे अ० ६ में पूतना मारकर वीर्यधर्म दिखाया है। तीसरे अ० ७ में शकट, भंगकर यश को दिखाया है। 'आधार में उत्कर्षताकर सबको आनन्द देने वाला चारो तरफ फैल जाय, वह यश कहलाता है। अथवा अच्छी रीति से वर्णन योग्य गुण तथा क्रिया समूह, जिसमें हो उसे यश कहते हैं। चौथे अध्याय ८ में श्रीवर्णन स्पष्ट है। नाम लीला और रिंगण लीला दोनों लीला सब आपत्ति को दूर करनेवाली हैं। इसलिये आपत्तिनिवारण श्री कार्य है। गर्ग मुनि जिस समय नामकरण करने आये थे, उस समय उन्होंने कहा 'अनेन सर्वं दुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ'। १०।८।१६ इस श्रीकृष्ण द्वारा तुम सब बिना श्रम सर्वदुःखों को तर जाओगे। आपत्ति निवारण श्रीकार्य है। पांचवें अध्याय ९में ज्ञान का दामोदर लीला द्वारा 'नचान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्' बोध होता है। छठे अ० १० में वैराग्य कार्य यमुलार्जुन को मुक्ति देना है। भगवान् के अतिरिक्त दूसरे में आसक्ति न होना वैराग्य है। सातवें अ० ११ में धर्मसहित धर्मी का कार्य स्पष्ट अनेक बाललीलायें दीखती हैं। उक्त सात अध्याय प्रमाणप्रकरण द्वारा नन्दादि पुरुषों को निरोध सिद्ध हुआ। यह निरोध स्नेहरूप होकर सबसे अधिक हो जाता है। प्रमाण द्वारा प्रमेय सिद्ध होता है। प्रमेय यहां भगवान् हैं। जब भगवान् की अमानुषी लीला दृष्टिगोचर होती है, तब सकल दुःख निवारक माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सर्वतोऽधिक इनका भगवान में स्नेह हो जाता है। यह स्नेह निरोधरूप होकर सबसे अधिक है।

तामस प्रमेय प्रकरण अ० ७ का है (इसका क्रम पहिले कहे तीन अध्याय प्रक्षिप्त छोड़कर है। इसमें प्रमेय माहात्म्य द्वारा ही यशोदा आदि को आसक्ति रूप धर्म होगा, अतः इसे प्रमेय प्रकरण कहते हैं। इस प्रकरण में भी प्रमाण प्रकरण की तरह क्रम है। छः अध्याय में ऐश्वर्यादि धर्मों का तथा सातवें में धर्मी का वर्णन है, 'तं गोरज्छुरितकुन्तलवद्धबर्हवन्यप्रसून-रुचिरेक्षणचारुहासम् । वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिगोप्योदितक्षितदशोरऽभ्यगमन् समेताः ॥ पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापजहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽस्मिं । तत्सत्कृतिं समधिगम्य विशेषगोष्ठं

सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्' द० ४२-४३। इस प्रकार प्रथम अ० १२ में ऐश्वर्य कहा है। इस प्रकरण के दूसरे अ० १३ में कालीयदमन लीला का वर्णन, वीर्यबोधक है। तीसरे अध्याय १४ में यश का वर्णन है। भगवान् ह्रद में जबसे नागदमन के लिये पधारे, तबसे उनका दर्शन नहीं हुआ, इससे प्रत्येक निरोध्य भक्त के हृदय में आर्ति हुई, और भगवन्मुखदर्शन की लालसा तीव्र हो गई। प्राण में प्राण नहीं रहा। उसी समय 'कृष्णं ह्रदात् विनिष्क्रान्तम्' १०।१७।१३ दिव्य माला-वस्त्र-मणि आदि धारण करने वाले प्रभु से मिलकर सबके प्राणों में प्राण आ गये। इस उक्त अभीष्ट दर्शन यश का वर्णन तीसरे अध्याय में है। चौथे अध्याय १५ में प्रलम्बासुर का वध करके काल दुःख दूर किया, दुःखनिवारण श्री का लक्षण है। पांचवें अध्याय १६ में दावाग्निपान से अपना माहात्म्य दिखाकर स्वरूप ज्ञान कराया, अतः ज्ञान धर्म का निरूपण है। छठे अध्याय १७ में वर्षा तथा शरद ऋतु काल का मुख्य वर्णन किया गया है। किन्तु उसमें तटस्थतापूर्वक रहना वैराग्य लक्षण कहा है। सातवें अध्याय १८ में साक्षात् धर्मों का स्वरूप 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य ब्रह्मत्व वेणुगीत में स्पष्ट कहा है। इस प्रकार सात अध्याय का प्रमेय प्रकरण जिसमें स्त्रियों को अपने २ अधिकारानुसार आसक्ति रूप निरोध सिद्ध हुआ।

तामस साधन प्रकरण अध्याय ७

अब व्यसन की सिद्धि वर्णन करते हुए साधन द्वारा कुमारिका आदि को निरोधसिद्धि कहने के लिये साधन प्रकरण अ० ७ में कहा है। इस प्रकरण में 'तद्विना स्थातुमशक्तिर्व्यसनम्' भगवान् के बिना रह नहीं सकना, व्यसन का निरूपण है। देहसम्बन्धी सर्वधर्म-त्यागपूर्वक भगवान् की प्राप्ति के लिये लौकिक-वैदिक करना व्यसन है। किसी दूसरे की प्राप्ति के लिये नहीं। अर्थात् व्यसनी का लौकिक वैदिक भी भगवान् के अधीन हो जाता है। इस प्रकरण में पूर्व की तरह सात अध्याय हैं। प्रथमाध्याय १९ में कुमारिकाओं को व्रत वरदान ईश्वरधर्म है। अतः ऐश्वर्य का निरूपण स्पष्ट है। दूसरे अध्याय २० में यज्ञपत्नियों के प्रसङ्ग में बोधनादि, भगवन्माहात्म्य निरूपण द्वारा वीर्य कार्य है। अर्थात् यज्ञपत्नियों को समझाना वीर्यलीला के अधीन है। तीसरे अध्याय २१ में वैष्णवयाग करने से यशनिरूपण स्पष्ट है। चौथे अध्याय २२ में व्रजवासियों की इन्द्र द्वारा की गई महती आपत्ति दूर करके श्रीगोवर्द्धन पर्वतधारण करना श्रीकार्य है। पांचवें अध्याय २३ में भगवान् के अद्भुतकर्मों को देखकर व्रजवासियों को शंका उत्पन्न हो गई 'नंद ते तनयेऽस्मासु' तव 'गर्गो मे यदुवाच ह' १०।२३।१५ इत्यादि वाक्यों द्वारा श्री नंदराय जी ने 'तान्यहं वेद नो जनाः' एकान्त में गर्ग जी ने श्रीकृष्ण के जो गुण मुझसे कहे हैं, उन्हें मैं जानता हूं, अन्य नहीं। उक्त वाक्यों में भगवान् ने ज्ञान कार्य दिखाया है। छठे अध्याय २४ में इन्द्र का मद छुड़ाना वैराग्य कार्य स्पष्ट है। सातवें अध्याय २५ में गोकुलवासियों को वैकुण्ठ की प्राप्ति कराकर, उसमें से उद्धुति-निकालकर भजनानन्द का दान करना यह धर्मी का कार्य है। इस प्रकार साधन प्रकरण में व्यसनोपयोगी कायिकव्यापाररूपी साधन करके कुमारिकाओं को व्यसनरूप निरोध सिद्ध हुआ। तथा पुष्टिमार्गीय पांच विद्या के पर्व भी इस प्रकरण में बतलाये हैं वह आगे लिखते हैं (१) मनुष्य को देहइन्द्रिय आदि समग्र पदार्थ का विनियोग भगवान् में ही करना चाहिये, अपने स्वार्थ के लिये नहीं इस प्रकार निर्णयरूप एक पर्व है। (२) देह निर्वाह के लिये तथा प्राणादि धर्म सिद्ध करने के लिये मनुष्य स्वतः समर्थ हो तब भी प्रभु की ही प्रार्थना करनी चाहिये, न कि दूसरे की। प्रभु लोक में अलौकिक नहीं करते हैं, भगवद्भाव में अनुग्रह ही नियामक है, शास्त्रीय साधन नहीं, इस प्रकार निर्णयरूप दूसरा पर्व। (३) इतर भजन परंपरा से भी आ रहा हो तब भी उसे न करना चाहिये, परंपरागत इतर धर्म को भगवान् की इच्छा

होने पर छोड़ दे इस प्रकार निर्णयरूप तीसरा पर्व। (४) समग्र अवस्थाओं में हरि ही सेव्य हैं। भगवान् अखिलष्टकर्मा अपने जनों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार निर्णयरूप चौथा पर्व। (५) माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक परम स्नेह, भक्तों में आधिक्याज्ञान यह पांचवां पर्व। उक्त पंचक सिद्ध होने पर पूर्ण निरोध सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार पांच प्रकार की विद्या है, सांख्य आदि पहले कहे, उसी प्रकार कर्म भी पांच प्रकार का है। (१) गोपीजनों ने जो कात्यायनी व्रत पूजन आदि किया, वह भगवान् की प्राप्ति के लिये परंपरा से सेवारूप ही किया, यह प्रथम कर्म। (२) गोप जिस समय क्षुधापीड़ित हुए, उस समय भूख की शान्ति के लिये, भगवान् से प्रार्थना की, यह प्रार्थनारूप कर्म द्वितीय कर्म। (३) नंदराय जी आदि ने परंपरा से प्राप्त इन्द्रयाग को छोड़ दिया, श्रीगोवर्द्धन याग किया, यह तीसरा कर्म। (४) इन्द्रकृत वृष्टि से व्रजजन अत्यन्त घबड़ाकर भगवान् की ही शरण में गये, शरण जाना चौथा कर्म। (५) नंदराय जी के वाक्यों द्वारा गोपों का संदेह दूर हुआ, इन्होंने माहात्म्य ज्ञानपूर्वक स्नेहयुक्त कर्म किया, यह पांचवां कर्म। इस प्रकार तामस साधन प्रकरण का विवरण हुआ।

तामस फल प्रकरण अध्याय ७

दशम स्कंध में जन्म प्रकरण के अनन्तर सात्त्विक प्रकरण को छोड़कर पहले तामस प्रकरण क्यों आया ? तथा इसको तामस क्यों कहा ? उक्त संदेह निवृत्ति करने के लिये गो० श्रीविट्ठलनाथ जी ने टिप्पणी में लिखा है कि भक्तिमार्ग में मुख्य सिद्धान्त पुरुषोत्तम स्वरूप ही फल है और नहीं। पुरुषोत्तम के सम्बन्ध से अन्यत्र फल कहने में आता है। सात्त्विकी लोगों की रुचि ज्ञानादि निहित मार्गों में होती है। राजसी लोगों का चित्त सदा विक्षिप्त रहता है। इसलिये लौकिक-अलौकिक कर्मों में लगे रहने से स्वरूप विस्मृति संभव हो सकती है। अतः इन दोनों की अच्छी तरह निरोध नहीं हो सकता। तामसी लोग मुग्ध (मूढ) होते हैं। इनका जिस विषय में आग्रह हो जाता है उसको कभी नहीं छोड़ते। दृढाग्रही होते हैं। यह बात लोक में प्रत्यक्ष है। यह पहले कह चुके हैं कि भगवान् भक्त का स्वभाव परिवर्तन नहीं करते, भक्तानुकरण करते हैं। व्रजवासियों का भगवान् के स्वरूप में इस प्रकार का स्नेह हो गया था कि, भगवान् के स्वरूप से अन्य किसी पदार्थ को नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् का ही किया धर्मोपदेश भी नहीं माना। इसी प्रकार आगे दिये हुए ज्ञान को भी नहीं माना। अतः सर्वात्मा से निरोध तामस भक्तों को सिद्ध (फलित) हुआ। इनके धर्म की समानता से पुष्टि मार्ग की मर्यादा से विपरीत गति है, इस भाव को ज्ञापन करने के लिये, व्रजभक्तों के धर्म समान पुष्टिमार्ग हैं, इसको, तथा पुष्टिमार्ग मर्यादा मार्ग से विपरीत है, इन दोनों तात्पर्यों को ज्ञापन करने के लिये इस प्रकरण को तामसत्व कहा है। वास्तव में तो निर्गुण ही है। 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येत्यारभ्य, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति। 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः' इति। भागवत स्कं० ११।...भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञान-वैराग्य मेरे भक्तों का कल्याण नहीं कर सकते, एवं मेरे भक्त स्वर्ग, अपवर्ग और नरक में तुल्यार्थ देखनेवाले, अर्थात् एक-सा ही देखते हैं। इस प्रकार जब भक्तजन ज्ञानसाध्य मोक्ष की गणना नरक के बराबर करते हैं, तब फिर ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग से न्यून हो तो ठीक ही है।

व्रजभक्तों का एक भगवान् में ही विशुद्ध भाव था, इसलिये इनको सबसे अधिकता शास्त्रसिद्ध है। यही लौकिकता तामस में मुख्य है। यद्यपि व्रजभक्त जानते हैं कि, भगवान् व्यापक हैं आत्मा हैं, हमारे हृदय में विराजते हैं। तथापि लोक में बाहर प्रकट स्वरूप को ही मुख्य मानते हैं। अन्तरात्मादि स्वरूप को नहीं मानते। व्रजभक्तों की कर्म-ज्ञान-विहित भक्ति आदि में आसक्ति

नहीं थी। न भीतर विराजमान स्वरूप में, किन्तु एक आग्रह भगवान् के बाहर प्रकट हुए स्वरूप में ही था और वह लोक में तामसी लोगों की तरह सुदृढ़ था, इसलिये इनको तामस भक्त कहा है। मर्यादामार्ग से भक्तिमार्ग विलक्षण है। मर्यादा में पुरुष, और यहां स्त्रियों की मुख्यता है। मर्यादा में मुक्ति का प्रतिबन्धक काम है, वही भक्तिमार्ग में भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। उक्त विज्ञापन करने के लिये, अलौकिक काम ही है, अन्तः फल जिसका, इस प्रकार की लीला तामस प्रकरण में वर्णन की गई है। इसमें असंभावना नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार की कृति का आगे स्फुट निरूपण करेंगे। मर्यादा में विहित भक्ति द्वारा भगवान् का आविर्भाव होता है। भक्तिमार्ग में कामवश से ही दीनता होने पर प्रभु प्रकट होते हैं। प्रकट हुए प्रभु में कामशास्त्र के अनुसार, विधि के अनुसार नहीं 'एका भ्रुकुटिमाबध्य' इत्यादि कथन से स्नेह होता है जिसका फल ब्रह्मादि देवताओं को भी साधनों द्वारा दुर्लभ (अप्राप्य) नहीं मिलने वाला, भजनानंद, उसको भगवान् निःसाधन व्रजभक्तों की अधीनता स्वीकार कर देते हुए। इस कारण से व्रजभक्त सबसे श्रेष्ठ हैं। अथवा मूल में गज (हाथी) का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार हाथी कामवश हथिनियों के पास स्वयं आता है, उसी प्रकार भगवान् स्वयं कामवश होकर भक्तों के समीप आते हैं। और फिर कही गई रीति के अनुसार कामोत्पन्न होने पर प्रिय में स्नेह होता है। यह रीति मर्यादा आदि मार्गों में संभव नहीं होती, इसलिये तामस प्रकरण प्रथम कहा है।

पहले भी तामस का कारण कह चुके हैं। पूर्व प्रकरण में साधन कहा, साधन करने पर भक्ति का उद्रक (विशेष वृद्धि) होता है। उसके अनन्तर भक्ति के प्राबल्य से षड्गुण संपन्न पूर्ण भगवान् फलरूप की होती है। इसलिये इसको फल प्रकरण कहते हैं। इसमें भी अध्याय सात हैं। किन्तु ऐश्वर्यादिकों का क्रम जिस प्रकार पिछले तीन प्रकरणों में कहा है, वह यहां नहीं है। पुष्टिफल में क्रम का अतिक्रम दूषण रूप नहीं है, प्रत्युत भूषण रूप है। बीच में ही सुखविशेष भी होता है। फल प्रकरण में भगवान् को रमणरूप फल देना है। वह रमण, रूप, नाम भेद से दो प्रकार का है। रूपद्वारा रमण पांच अध्याय से कहा है, क्योंकि आत्मा, मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर, पञ्चात्मकरूप है। नाम द्वारा रमण दो अध्याय से कहा है। क्योंकि शब्द प्रवृत्ति, निवृत्ति भेद से दो प्रकार का है। इस प्रकरण के प्रथमाध्याय २६ में ऐश्वर्य निरूपण है। ऐश्वर्य नाम स्वतंत्रता, अर्थात् कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा कर्तुं, सामर्थ्य का नाम ऐश्वर्य है। इस प्रथम अध्याय में नाद द्वारा व्रजभक्तों का आह्वान कर (बुलाकर) वाक्य द्वारा लौटकर घर जाने की प्रेरणा 'कर्तुं सामर्थ्य' रूप ऐश्वर्यबोधक है। भगवद्वाक्य सुनकर व्रजभक्त घर लौटकर नहीं गये, यह अकर्तुं सामर्थ्य है। फिर रमणानन्तर व्रजभक्तों को गर्व हुआ, तब भगवान अन्तर्धान हो गये, यह 'अन्यथा कर्तुं' सामर्थ्य है। अथवा कर्तुं नाद द्वारा आह्वान करने का सामर्थ्य है। 'अकर्तुं' लौटकर घर जाने की आज्ञा करके भी उनको गृह गमन न करने का सामर्थ्य है। अन्यथाकर्तुं, अपने प्रबल वाक्यों को दुर्बल कर जीव के दुर्बल वाक्यों को प्रबल करना है। अथवा भगवान के वाक्य न मानना, यह दोष रमण में हेतुभूत बनाकर, उसे गुणरूप बना दिया, यह कर्तुंसामर्थ्य। असंभावित गर्व कर्तुं, संभावित सर्वभावप्रपत्ति, यह अकर्तुं। इसी प्रकार बाहर प्राकट्य को तथा बाह्यरमण को अन्तर्भूत करने को कर्तुं आदि सामर्थ्य कहा है। इस प्रकार प्रथमाध्याय में विविध प्रकार के ऐश्वर्य का वर्णन किया है। द्वितीयाध्याय २७ में परोक्षोऽपि रतिं चक्रे' निबन्ध। भगवान् परोक्ष भी होते रमण करते हुए, अर्थात् आत्माराम होते हुए भी रमण करते हुए यह रमण वीर्य सूचक है। तीसरे अध्याय २८ में गोपी गीत में भगवान् की स्तुति द्वारा यश का वर्णन हैं। चौथे अध्याय २९ में 'तासामाविर्भूच्छौरिः' भगवान् का प्राकट्य विरह-दुःख दूर करनेवाला होने से

श्रीकार्यसूचक है। अब बीच में ज्ञान-वैराग्य का निरूपण न करके धर्मी का निरूपण किया है। पांचवें अध्याय ३० में पहले प्रादुर्भावरूप श्री का निरूपण किया, अनन्तर रमण की आवश्यकता होने से रमण में ज्ञान-वैराग्य बाधक है। अतः श्रीनिरूपण के पीछे ज्ञान-वैराग्य को न कहकर धर्मी का निरूपण किया है।

भगवान् बिना अन्य सब का त्याग पुष्टिमार्गीय वैराग्य है। यह वैराग्य भगवत्स्वरूप रूप फल जब मिल जाता है, तब उसके अनन्तर होता है। क्योंकि स्वरूपफल पाने के पीछे ही भगवान सर्वोत्तम हैं, यह ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान के अनन्तर ही वैराग्य—और इसके द्वारा अन्य सब का त्यागकर एक भगवान् को ही चाहता है। इसलिये यहां प्रथम धर्मी फल कहा है। पुष्टिमार्गीय ज्ञान धर्मी के पीछे कहा है। पुष्टिमार्गीय ज्ञान भी गुणगान रूप है। यह भगवान् की प्रादुर्भाव दशा में सम्भव नहीं हो सकता, किन्तु यह ज्ञान संयोग के बीच में हुई विप्रयोग अवस्था में होता है। इसलिये प्रथम धर्मी का निरूपण करके अनन्तर ज्ञान का निरूपण किया है। छठे अध्याय ३१ में वैराग्य, अन्याश्रय निवृत्ति द्वारा निरूपण किया है। लोकन्याय से अन्यत्र अन्याश्रय करे तो अनिष्ट हो, नन्दजी ने अम्बिका व्रत करके अन्याश्रय किया, अतः सर्प ने पकड़े, अनन्तर प्रभु शरण जाने पर मुक्त हुये। मर्यादा रमण में शंखचूड का सम्बन्ध हुआ, इसलिये भगवान् उदासीन रहे। यह वैराग्य है। सातवां अध्याय ३२ में ज्ञान का निरूपण स्पष्ट है। पहले कह चुके हैं कि पुष्टिमार्गीय ज्ञान विरहदशा में होता है। भगवान् वन में गाय चराने पधारते हैं। उस वक्त 'कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्' व्रजभक्त कृष्ण-लीलाओं का गान करते, दुःख से दिनों को व्यतीत करते हुए। यह गुणगान ज्ञान का कारण है, इसलिये इसे ज्ञानाध्याय कहा है। इस प्रकार सात अध्याय से तामस फल प्रकरण का विचार किया। अट्ठाईस अध्याय से प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल, निरूपण द्वारा गोकुलस्थ तामस भक्तों को फल पर्यन्त निरोध सिद्ध हुआ।

राजस प्रकरण अध्याय २८

राजस भक्तों का निरोध करने के लिये राजस प्रकरण का आरम्भ है। इसका क्रम भी पूर्ववत् है। प्रमाण प्र० अ० ७ का, ३३ से ३९ तक है। प्रमेय प्र० अ० ४० से ४६ तक है। साधन प्र० अ० ४७ से ५३ तक है। फल प्रकरण अ० ५४ से ६० तक है। कुल अध्याय २८ हुये। प्रथम प्रमाण सात अध्याय में, जिसमें छः अध्याय ऐश्वर्यादि धर्म निरूपण के, और सातवां धर्मी का है। प्रमाण की अपेक्षा द्वारा भगवच्चरित्र, तथा भगवान् में प्रीति एवं स्थिर बुद्धि हुई, इसलिये इसका नाम प्रमाण प्रकरण हुआ। प्रमाणबोध में नारद जी प्रथम हैं। इन्होंने कंस को प्रमाण कर बतलाया कि भगवान् देवकीपुत्र हैं। दूसरे अक्रूर जी हैं। इन्होंने नन्द एवं वसुदेव दोनों के पुत्र भगवान् हैं यह प्रमाणीभूत किया। तीसरे नन्दजी हैं। इन्होंने व्रज में भगवत्त्व प्रसिद्ध किया। श्रीगोपिकाओं ने अपने-अपने यूथ में भगवत्त्व प्रसिद्ध किया। व्यूहरूप हरि ने अक्रूर को पुरुषोत्तमत्व का भान कराया। कुब्जा ने मथुरा की स्त्रियों को भगवत्त्व ज्ञापित किया। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय में एक-एक प्रमाता है। अतः प्रमाण प्रकरण ७ अध्याय में है। प्रथम अ० ३३ में भगवान् की स्वतन्त्रता स्पष्ट ऐश्वर्यबोधक है। दूसरे अध्याय ३४ में दुष्ट दैत्यमारण से वीर्य स्पष्ट है। ज्ञान में बाधक केशी था, और लीला में बाधक व्योमासुर था। अतः दोनों को मारकर वीर्य कार्य स्पष्ट दिखाया है। तीसरे अ० ३५में अक्रूर जी व्रज में पधारे। यद्यपि अक्रूरजी सात्त्विक हैं, तथापि कंस के संगदोषसे राजस तामस हो गये। आगे भगवद्विषयक मनोरथ करने

पर राजस तामस दोष दूर हो जायगा। तब भगवान् के पास जाने की योग्यता होगी। दोष दूर होने पर सात्त्विकता हो जाती है। तदनन्तर भगवन्माहात्म्य का विज्ञान, अर्थात् भगवत्स्वरूप का बोध, भगवत्कर्म करने की इच्छा भक्त को होती है। यह सब अक्रूर जी को हुआ, इसने व्रज में यश की वृद्धि की, अतः यशलीला है। चौथे अध्याय ३६ में भक्तों के हृदय में विरह प्रकट करके भगवान् का अन्तःकरण में प्रादुर्भावरूपी श्री कार्य है। अर्थात् अक्रूर जी भगवान को बुलाने के लिये आये, कंस मारने को भगवान् के मथुरा पधारने के प्रसङ्ग में व्रजभक्तों के हृदय में वियोग हुआ, वह भगवान ने वाणी द्वारा शान्त किया, उस समय ऋषिरूपा उपनिषद्रूपा गोपीजनों ने भगवान् के वचनों में विश्वास करके धैर्यावलम्बन किया। आपने उनके प्राणों की रक्षा की। आपत्ति निवारण करना श्री कार्य है। पांचवें अ० ३७ में ज्ञान कार्य अक्रूर-स्तुति है, भगवान् ने अक्रूरजी को स्वमाहात्म्यज्ञान कराया, और ब्रह्म ह्रद संस्कार द्वारा स्नेह भक्ति प्रदान की, जिसके प्रभाव से काकापने के अभिमान को त्यागकर दीनतापूर्वक स्तुति की। यह सब ज्ञान कार्य है। छठे अ० ३८ में अक्रूरजी से भगवान् ने कहा, हम यहां पर ही रहेंगे, आप अपने घर जाइये। यह घर भेजना उपेक्षारूप होने से वैराग्य कार्य स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त निबन्ध में अन्य प्रसङ्गों द्वारा भी वैराग्य कार्य कहा है। आगे अध्याय ३९ के प्रारम्भ में कुब्जा वाक्य है, वह वैराग्यबोधक है। और अ० ३८ के प्रारम्भ में अक्रूरजी प्रति वाक्य वैराग्यजनक है। अतः इन दो वाक्यों के बीच में आया सर्वप्रसंग भक्तों को भगवत्त्वज्ञान उत्पन्न करानेवाला एवं इसके द्वारा वैराग्यजनक है। प्रसङ्ग, दण्ड तथा कृपा करनेवाले हैं, जिस प्रकार रजक (धोबी) को दण्ड दिया, उसने सीताजी के समय धृष्टता की थी, श्रीराम द्वारा सीताजी को वन छोड़ने में निमित्त हुआ था। इस कारण रजक को दण्ड दे शिक्षा की। कर्म मार्ग में सबको कर्मानुसार फल मिलता है। यह शिक्षा वैराग्यकार्य है। इसी प्रकार वायक (दर्जी), मालाकार (माली) ऊपर प्रसाद (कृपा) करी उस समय दोनों की सुन्दर परीक्षा की, यह परीक्षा वैराग्य कार्य है। दर्जी नटप्रिय वेष बनानेवाला है। इसलिये प्रिय हैं। इस प्रकार रजक, वायक, मालाकार तीनों प्रसङ्ग वैराग्यकार्य हैं। सातवें अध्याय ३९ में धनुषभंग धर्मी का कार्य है। अतः यह अध्याय धर्मी का है। इस प्रकार कुब्जा को रूपदान कर द्विविध निग्रह किया। अर्थात् यादवों की आसक्ति कराकर, तथा दुष्टों का वधकर प्रमाण द्वारा वसुदेव पुत्रत्व, ब्रह्मत्व, आदि यादवों को प्रमाणित कर बताया।

राजस प्रमेय प्रकरण अध्याय २८

प्रमाण द्वारा प्रमिति होती है। प्रमेयरूप भगवान् के बल का बोध कराने वाला प्रमेय प्रकरण अध्याय ७ में है। इस प्रकरण में भी पूर्ववत् ६ अध्याय ऐश्वर्यादि धर्मबोधक हैं, और सातवां धर्मी का है। प्रथम अ० ४० में कुवलयापीड़ वध ऐश्वर्यबोधक है। दूसरे अध्याय ४१ में चाणूरादिवध, और कंस वध वीर्यसूचक है। तीसरे अ० ४२ में उग्रसेन को राज्यतिलक यश कार्य है। चौथे अ० ४३ में गोकुल में रहनेवालों के आपत्तिनिवारण के लिये उद्योगरूप श्री-कार्य है। पांचवें अ० ४४ में 'भवतीनां वियोगो मे' यह वाक्य ज्ञानसूचक है। छठे अ० ४५ में कुब्जा, अक्रूर आदि भक्तों के घर पधार कर कृपा वृष्टि की, तथा उनकी आसक्ति अपने में कराई, अन्यासक्ति छुड़ाना वैराग्य कार्य है। सातवें अ० ४६ में धृतराष्ट्र को अक्रूर जी ने पाण्डवों की रक्षा करने को कहा, किन्तु शिक्षा न मानकर युद्ध किया, पृथिवी का भार दूर हुआ, भूभारहरण धर्मी का कार्य है। उक्त प्रमेय प्रकरण में सात भक्त, एवं सात शत्रु निरूपण किये गये हैं। सात भक्त (१) वसुदेवजी, (२) समग्र यादव, (३) गुरु, जिनको पुत्र दान किया, (४) यशोदानन्द,

(५) कुब्जा सहित गोपिका, (६) अक्रूर, (७) पाण्डव। ये सात अध्यायसूचक हैं। भगवान् का प्राकट्य सबका मोक्ष करने को हुआ है। अतः द्वेषियों को भी मोक्ष प्रदानकर प्रमेय बल दिखाया है। 'आसक्तिरेकता तत्वम्' इस लक्षण से किसी भी प्रकार भगवान् में एकतानता होनी चाहिये, अतः जिस प्रकार स्नेह से, उसी प्रकार भय से भी आसक्ति होती है। यद्यपि भय स्नेह का विरोधी है। तथापि पेशस्कृत कीटन्याय से कंसादिकों को आसक्ति हो गई, अतः यहां निरूपण करने में बाध नहीं होता। 'आसक्तः स्याद् भयादपि' इस वाक्यानुसार सात शत्रु गज, मल्लचाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशलक और कंस। इन सात द्वेषियों का वर्णन है। कंस के आठ भाइयों का मारना कंस वध के प्रसङ्ग में ही अन्तर्गत है। अतः सात ही हैं। इस प्रकार राजस प्रकरण की समाप्ति पूर्वार्ध समाप्ति है।

अथ दशमस्कन्ध उत्तरार्ध राजस साधन प्रकरण

अब दुःख निवारकता होने से भगवान् में एकतानता हो जाना ही साधन है। इसके द्वारा निरोध सिद्ध होता है। इसलिये इस प्रकरण को साधन प्रकरण कहते हैं। यहां सात अध्यायों द्वारा पहले की तरह क्रम है। ६ अध्याय ऐश्वर्यादि धर्मों के, तथा एक धर्मी का है। प्रथम अ० ४७ में जरासंध को भगाना आदि ऐश्वर्य कार्य है। अनन्तर द्वारका निर्माण ऐश्वर्य कार्य है। दूसरे अ० ४८ में मुचुकुन्द द्वारा यवन को भस्म कराकर, एवं मुचुकुन्द को साधन मात्र का उपदेश करके उसका उद्धार किया, यह वीर्य कार्य है। तृतीय अ० ४९ में रुक्मिणीजी की 'श्रुत्वा गुणान्, इत्यादि स्तुति द्वारा यश का वर्णन है। चौथे अध्याय ५० में रुक्मिणीहरणकर अन्य सम्बन्ध रूप आपत्ति दूर करना श्रीकार्य स्पष्ट है। पांचवें अ० ५१ में रुक्मिणी को विरूप करने के अनन्तर श्री बलदेवजी द्वारा रुक्मिणीजी को दिये ज्ञानोपदेश वाक्य ज्ञानकार्य रूप हैं। छठे अ० ५२ में द्वारका में प्रद्युम्नजी के दर्शनानन्तर, वहां से भी शंबर द्वारा समुद्र में डालने पर काम का रूप होने से सारे लोक के व्यसन हेतु पुत्र को भी भूल गये, इनके लाने का कोई उद्यम नहीं किया, यह वैराग्य कार्य है। अथवा प्रद्युम्न दर्शनानन्तर, उसमें मन लगाया, संसार से विराग हो गया, यह वैराग्य है। सातवें अ० ५३ में जाम्बवान् के साथ युद्ध करना, वहां से मणि लाना, कार्य धर्मी का है। इस प्रकार तत्तल्लीला द्वारा एकतानता साधन दिखानेवाला साधन प्रकरण कहा।

कुछ विशेष कथन

व्यसन (दुःख) में पड़े हुए जीवों को लौकिक दुःख से मुक्त करके भगवद्व्यसनी करना, यहां यह आशय है। अर्थात् लौकिक व्यसन दूर होकर भगवद्व्यसनी हो गये। दुःख निवारक भगवान् में एकतानता साधन है। दुःख देने वाले जरासंध यवन आदि हैं। मथुरा के बराबर विश्वकर्मा द्वारा द्वारकापुरी का निर्माण करा के वहां सबको योगबल से पहुँचाकर दुःख निवृत्त किया। यद्यपि जब सबको द्वारका पहुँचा दिया, मथुरा में कोई रहा नहीं, फिर यवन द्वारा दुःख की सम्भावना ही नहीं होती, अतः यवन के मारने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि, आध्यात्मिक दुःख विद्यमान थे 'अद्यापि मथुरायां हि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकाः सदा, दैविकाश्चापितिष्ठन्ति' अभी तक आध्यात्मिक, आधिदैविक, स्थान सदा विद्यमान हैं, 'भगवत्सन्निहित नित्य मथुरा में यवनों द्वारा दूषित स्थानों का रहना ठीक नहीं, अतः इनके रक्षार्थ यवन को मारा'। भगवान् के दर्शन होने पर भी मुचुकुन्द का मोक्ष क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर—मुचुकुन्द की कथा वीर्य अध्याय में है। इसको निद्राव्यसन से मुक्त किया। यह साधन प्रकरण है, फल प्रकरण नहीं है। इसलिये इसको भी साधन बताया, फल नहीं दिया, अतः भगवान् का दर्शन होने पर भी भगवदिच्छा से इस समय मुक्त नहीं हुआ। इसके सुख के लिए उद्धार नहीं किया। प्रमेयबल से

मुक्त करते तो साधनकक्षा वाले जीवों की स्वस्थता नहीं होती, दूसरे प्रारब्ध कर्म शेष था, प्रभु मर्यादामार्गीय जीवके प्रारब्धकर्म का नाश नहीं करते, इसलिये मुचुकुंद का मोक्ष नहीं हुआ, जन्मान्तर में हुआ।

अथ राजस फल प्रकरण अ० ७

तत्तदधिकारी को तत्तत्फल का दान देने से इस प्रकरण का नाम फलप्रकरण है। इस प्रकरण में पहिले की तरह ऐश्वर्यादि छै धर्म, तथा धर्मी का निरूपण है, इसके भी सात अध्याय हैं। प्रथम (अ० ५४) में शतधन्वा का वध ऐश्वर्यकार्य है। दूसरे (अ० ५५) में विश्वकर्मा द्वारा नगर निर्माण, मित्रविन्दा हरण, वीर्यकार्य है। तीसरे (अ० ५६) में भौमासुर वध के अनन्तर भूमि द्वारा स्तुति की गई, उसे अभयदान दिया, यह यशकार्य है (चौथे अ० ५७) में भगवान् ने रुक्मिणीजी से हँसी के वाक्य कहे, जब रुक्मिणी मूर्च्छित हुई, अनन्तर भगवान् ने समझाया, तब प्रिय मेरा त्याग करेगा यह भय-आपत्ति दूर हुई, भयापत्ति दूर करना श्रीकार्य है। प्रिय त्याग से प्राणगमनरूपी आपत्ति भी हो जाती है। उसको भी दूर किया। पाँचवें (अध्याय ५८) में भगवान् की पत्नियाँ विविध सेवा रमणादि द्वारा आपका मन वश में न कर सकीं, यह ज्ञान-कार्य है। छठे (अ० ५९) में अनिरुद्ध को बांधलेने पर भी छुड़ाने का उपाय न करना वैराग्य-कार्य है। सातवें (अ० ६०) में बाण की भुजा काटना धर्मी कार्य, एवं माहेश्वर, वैष्णव दोनों ज्वरों के युद्धानन्तर शंकर को वरदान देना धर्मी कार्य है। इस प्रकार राजसफल प्रकरण २८ अध्याय का पूर्ण हुआ।

अथ सात्त्विक प्रकरण अ० २१

सात्त्विक भक्तों के निरोधार्थ सात्त्विक प्रकरण है। इसमें प्रकरण नहीं है। कारण कि, सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती, भगवान नंदकुमार वसुदेवपुत्र ईश्वर हैं, यह इनमें स्वाभाविक प्रमाणज्ञान होता है 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इनके सत्त्व स्वभाव ही से है। अतः प्रमाण की अपने आप ही स्फूर्त्ति होती है। इन भक्तों को निरोध प्रमेय, साधन, फल, इन तीनों द्वारा ही सिद्ध हुआ है। इसलिये इसके २१ अध्याय हैं। प्रथम प्रमेय प्रकरण है। क्रम पूर्ववत् ही है। प्रथम (अ० ६१) में नृगमोक्ष, ऐश्वर्य कार्य है। दूसरे (अ० ६२) में यमुनाकर्षण वीर्यकार्य आवेशी बलराम द्वारा है। तीसरे (अ० ६३) में भगवान के सदृश रूप धारण करने वाले पौंड्रक (मिथ्या वासुदेव) को मुक्तिदान यश-कार्य है। चौथा (अ० ६४) में बलदेव क्रीड़ा श्रीकार्य है। रमण द्वारा भक्तों की तथा द्विविद नाम के बंदर को मारकर ऋषियों की आपत्ति दूर करके श्री कार्य सूचन किया। पांचवें (अ० ६५) में गुरु को स्वरूप ज्ञान कराना ज्ञानकार्य है। छठे (अ० ६६) में भगवान गृहस्थाश्रमधर्म करते हुए भी निर्लेप हैं, यह दर्शन नारद को कराना वैराग्यसूचक है। सातवें (अ० ६७) में प्रातः काल उठना, स्नान, दान, राजसभा प्रवेश आदि धर्मी कार्य हैं। इस सात्त्विक प्रकरण का प्रथम प्रमेयप्रकरण सात अध्यायों में कहा गया।

अथ सात्त्विक साधन प्रकरण अ० ७

यह साधन मर्यादाबोधक है। अतः इसको साधनप्रकरण कहते हैं। क्रम पूर्ववत् हैं। प्रथम (अ० ६८) में समग्र सेना सहित हस्तिनापुर गमन, और वहां जाने पर युधिष्ठिरादि द्वारा पूजा करना आदि ऐश्वर्यकार्य है। दूसरे (अ० ६९) में युधिष्ठिरादि विजय में भीम द्वारा जरासंध वध वीर्य कार्य है। तीसरे (अ० ७०) में जरासन्ध के जेल में पड़े हुए राजाओं द्वारा स्तुति करना यशलीला है। चौथे (अ० ७१) में शिशुपाल का वध कर उसकी जय विजय पार्षद समय में शापरूप आपत्ति दूरकर भक्ति का दान करना श्रीकार्य है। पांचवें (अ० ७२) में दुर्योधन को

जल स्थल का भ्रम हुआ, भीम आदि हंसे—हास्य देखकर अब भूभार हरण होगा। इस बात को जानकर भी भगवान का मौन धारण ज्ञानकार्य है। छठे (अ० ७३) में शाल्व युद्ध में सारथी प्रद्युम्न को युद्ध से हटाकर लाया, तब प्रद्युम्न ने कहा, युद्ध में मरना श्रेष्ठ है, किन्तु भागकर शरीररक्षा वीर के यश को दूर कर देती है। इस प्रकार शरीररक्षा की निन्दा वैराग्यकार्य है। सातवें (अ० ७४) में शाल्ववध आदि धर्मी का कार्य है। इस प्रकार ७ अध्यायों से सात्त्विक साधन प्रकरण कहा गया है।

अथ सात्त्विक फल प्रकरण अ० ७

इसमें सात अध्याय हैं। क्रम पूर्ववत् ही है। प्रथम (अ० ७५) में दन्तवक्त्र वध आदि ऐश्वर्य-कार्य है। बलदेव जी द्वारा सूतजी का वध, फिर सूतजी का स्थापन, ब्रह्मशाप से मुक्त होना, यह सब अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य ऐश्वर्यसूचक है। दूसरे (अ० ७६) में बल्वलवध आदि आवेशकार्य वीर्यसूचक है। तीसरे (अ० ७७) में दरिद्र सुदामाजी का लक्ष्मीसहित सत्कार करना यशलीला है। चौथे (अ० ७८) में एक मुष्टि चावल की खुद्दी मात्र में सर्वसम्पत्ति का दान, एवं मुक्तिदान श्रीकार्य है। पाँववें (अ० ७९) में कुरुक्षेत्र यात्राप्रसंग में भक्तों को एकान्त में ज्ञानोपदेश वाक्य ज्ञानकार्य है। छठे (अ० ८०) में पुष्टि मार्गीय द्रौपदी जी ने भगवान के साथ किस प्रकार विवाह हुए ऐसे पटरानियों से प्रश्न किये, तब पटरानियों ने विवाह वर्णन किये, और उसमें भगवान की दास्यता का निरूपण करके संसारसे वैराग्य दिखाया, यह भगवान्द्वारा ही वैराग्य कार्य है। सातवें (अ० ८१) में द्वैपायनादि ऋषि भगवान के दर्शनार्थ आये, तब उनके प्रति भगवान ने जो कहा, वह धर्मी कार्य है। इस प्रकार सात अध्याय सात्त्विक फल प्रकरण के कहे। कुल २१ अ० हुए।

अथ गुणनिरूपण प्रकरण अ० ६

गुणप्रकरण में अ० ६ हैं—जिस भगवान ने उक्त लीलाओं द्वारा भक्तों को निरोध सिद्ध किया, वह श्रीकृष्ण परात्पर है। इसका निरूपण करने के लिए गुणप्रकरण है। गुण ६ हैं, इसलिये अध्याय भी ६ हैं। प्रथम (अ० ८२) में वसुदेवस्तुति उपदेश देवकी के पुत्रों को लाना आदि ऐश्वर्य-कार्य है। दूसरे (अ० ८३) में दो प्रकार का वीर्य निरूपण किया है। (१) बुद्धिवीर्य (२) क्रियावीर्य। अर्जुन ने सुभद्रादि हरण किया, उसमें आपने प्रतिबन्ध नहीं किया, एवं क्रुद्ध बलदेवजी को शान्त कर निन्दा भी न होने दी। यह भगवान का विचार 'बुद्धिवीर्य' है। श्रुतदेव तथा जनक को एक समय में ही दो स्वरूप धारण कर दोनों को मुक्ति दान किया। मुक्ति दान करना 'क्रियावीर्य' है। तीसरे (अ० ८४) में श्रुतिगीता द्वारा भगवान का यश कहा है। चौथे (अ० ८५) में शंकर की आपत्ति दूर करना श्रीकार्य है। पांचवें (अ० ८६) में भृगु ने परीक्षा करने के समय लात मारी, उस समय क्षमा करना ज्ञान-कार्य है। छठे (अ० ८७) में स्त्रियों के साथ जलक्रीडा में मन का तिरोधान किया, मन के तिरोधान से समग्र पटरानी अत्यन्त विह्वल हो गईं, और सर्व क्रिया उनकी कृष्णमय हुईं। स्कन्धार्थ निरोध है। अतः उपसंहार में भी निरोध का वर्णन है। लोक शिक्षा के लिये भगवान का गृहस्थाश्रम धर्म स्वीकार करना, वैराग्य है। इस प्रकार ६ अध्याय का गुणप्रकरण पूर्ण होकर दशम स्कन्ध समग्र का विभाग ८७ अध्याय से समाप्त हुआ।

अथ एकादश स्कन्ध मुक्तिलीला अ० ३१

जब भक्त को भक्ति सिद्ध हो जाती है, तब स्वरूप प्राप्तिरूपा मुक्ति होती है। इसका

वर्णन एकादश स्कन्ध में किया है। इसमें दो प्रकरण हैं—'जीवमुक्ति प्रकरण' 'ब्रह्ममुक्ति प्रकरण'। जीवमुक्ति दो प्रकार की होती है (१) ब्रह्मभाव (२) सायुज्य। इस प्रकार दो भेद हैं। 'ब्रह्मभाव' अध्याय ५ से कहा है। क्योंकि विद्या द्वारा ब्रह्मभाव होता है। अर्थात् ब्रह्मभाव की प्राप्ति में विद्या कारण होने से, विद्या के पांच पर्व पांच अध्याय में कहे गये हैं। प्रथम अ०में वैराग्य निरूपण, ब्राह्मण का शाप वैराग्य उत्पन्न करने वाला है। दूसरे अ० में सांख्य का निरूपण है। कवि ने 'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्' ११–२–३ इत्यादि वाक्य द्वारा भेद बुद्धि दूर करने वाले भगवद्धर्म का बोधन किया है। इसमें तत्त्व-अतत्त्व-विवेकरूप सांख्य का निरूपण है। तीसरे अध्याय में योग का निरूपण है। प्रबुद्ध वाक्य में गुरु की शरण द्वारा भगवद्धर्म का शिक्षण किया गया है। 'सर्वतो मनसोऽसङ्गम्' ११–३–२३ चारों ओर से मन को निःसङ्ग करना आदि उपदेश चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का प्रतिपादक है। चौथे अध्याय में तप का निरूपण है। नारायण का तपनिरूपण करने से, अवतारों का चरित्र वर्णन करके भी, चित्त का पाप शोषण रूप तप का निरूपण किया है। पांचवें अध्याय में भगवान् का भजन न करने वाले की निन्दा करके पश्चात् भगवद्भजन करना, कहकर भक्ति का ही निरूपण किया है। इस प्रकार 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे। पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्' पञ्चपर्वा विद्या द्वारा, अविद्यानिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मभावरूप मुक्ति सिद्ध होती है।

जीवमुक्ति प्रसङ्ग में दूसरा सायुज्य प्रकरण अ. ६ से २९ तक है। सायुज्य का भक्ति कारण है। भक्ति की सिद्धि में तत्त्व का अतिक्रम कारण है। तत्त्वसंख्या २४ है। इन चौबीस तत्त्वों का अतिक्रम (उल्लंघन, नाश) का क्रमबोध कराने के लिए २४ अध्याय में सायुज्यप्रकरण है। इसके प्रथम (अ. ६) में मूलप्रकृति का नाश कहा है। ब्रह्मा के प्रति तथा यादवों के प्रति भगवद्वाक्य में यदुकुल संहार का बोध एवं मनुष्यनाट्य त्याग का बोध होने से मूलप्रकृति का नाश प्रतीत हुआ। द्वितीयाध्याय में 'यदिदं मनसा वाचा, पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थः' इत्यादि से भगवान ने उद्धवजी के प्रति भेदमात्र को भ्रमरूप कहा। आगे सातवें अध्याय में श्लोक 'तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामः' आत्मा में सर्वजगत देखने को कहकर भेद का निराकरण किया, भेद का मूल महत्तत्त्व है। अतः इसका नाश ७ वें अध्याय में कहा है। तत्त्व के अतिक्रम में क्रम विवक्षित नहीं है। इस लिये जिस जिस अध्याय में जिस जिस तत्त्व का नाश प्रतीत होता हो, उस उस अध्याय में तत्तत्तत्त्व का अतिक्रम अध्यायार्थ जानना चाहिये। इस प्रकार ६–से २९ अध्याय का सायुज्य प्रकरण है।

'ब्रह्ममुक्ति प्रकरण' दो अध्यायों ३०–३१ में है। इसमें भगवान् ने अहंता-ममतारूप मनुष्यनाट्य का त्याग किया, यह मोचन रूप होने से मुक्तिरूप है। अहंता-ममता नाशक होने से दो अध्याय ब्रह्ममुक्ति प्रकरण के हैं। इस प्रकार इकतीस अध्याय से एकादश स्कन्ध प्रकरण विभाग है। इसमें २९ प्रकार के जीवों की मुक्ति २९ अध्यायों से और पीछे के २ अध्यायों से ब्रह्म का मुक्तिनिरूपण किया है।

अथ द्वादश स्कंध : आश्रयलीला अ० १३

भगवान् की नवलीला पूर्ण हुईं, इनके द्वारा शुद्ध निरावरण मुक्त जीव का आश्रय श्रीकृष्ण है। इसका वर्णन १३ अध्यायों से द्वादशस्कंध में किया है। आश्रय पांच प्रकार का है। (१) कृष्णाश्रय (२) जगदाश्रय (३) वेदाश्रय (४) भक्ति मार्गाश्रय (५) भागवताश्रय। इस

द्वादशस्कंध में पांच प्रकरण हैं। द्वितीय स्कंध में कहा है कि 'दशमस्य विशुद्धयर्थम्' (२-१०-२) सर्गादि नवलीला का निरूपण करने से दशम आश्रय का स्पष्ट निरूपण हो जाता है। दूसरा 'आभासश्च निरोधश्च (२-१०-७) इस श्लोक में जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्तृत्वरूप है। तीसरा 'त्रितयं तत्र यो वेद' जो आध्यात्मिकादि तीनों को जानता है, वह आश्रय है। चौथा 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' (२-१०-९) इसमें दो आश्रयपद कहे हैं, अतः दो लक्षण प्राप्त होते हैं। स्वयं भगवान पुरुषोत्तम का आश्रय अक्षर ब्रह्म है अर्थात् अपना आश्रय आप ही है। अन्य की अपेक्षा नहीं है। नवलक्षण का आश्रयरूप अक्षर ब्रह्मका रूप चौथा आश्रय है। पांचवां अक्षर का भी आश्रय श्रीकृष्ण है। इस प्रकार नवलक्षणलक्ष्यत्व अक्षर में है। और दशलीलायुतत्व धर्म श्रीपुरुषोत्तम में है। अक्षररूप होना भी लीला है। आश्रयपद से कहा अक्षर ब्रह्म उसको भी लीला पता है। नहीं तो २-१०।९ श्लो० में स्वाश्रय पद से ही चरितार्थता हो जाती, पुनः दूसरा आश्रयपद लक्षण में अनर्थक हो जाता, अतः दो बार आश्रयपद से अक्षर तथा पुरुषोत्तम दोनों का निरूपण किया है। 'नवलक्षणलक्ष्ये हि कृष्णः' यहां अक्षरको पुरुषोत्तम से अभिन्न कहा है। इस प्रकार आश्रय पांच प्रकार का है। जध्याय ३ में कृष्णाश्रय प्रकरण है। इसमें अन्यनिषेध मुख से आश्रय का निरूपण होने से लोकनाश, धर्मनाश, निरूपण मुख द्वारा तथा स्वतन्त्रता निरूपण द्वारा तीन अध्याय कहे हैं।

प्रकरण २ इसमें विधिमुख से निरूपण किया गया है। भगवान् जगत् के सृष्ट्यादि कर्ता हैं, जगत् रूपनाम भेद से दो प्रकार का है। अतः जगदाश्रय का दो अध्याय ४-५ में वर्णन है। छठे अध्याय में पूर्वार्ध ज्ञान का अङ्ग है—इसलिये देहलीदीपक न्याय से जगदाश्रय-तथा वेदाश्रय-दोनो प्रकरण का अङ्ग होने से दोनो तरफ इसका अन्वय होता है। इसका कारण दूसरे प्रकरण में २॥ अध्याय हैं। प्रकरण ३ आगे वेदशाखाओं का निरूपण होने से 'वेदाश्रय' का वर्णन है। वेद प्रवृत्ति, निवृत्ति भेद से दो प्रकार का है। पहिले कहा छठे अध्यायका उत्तरार्ध लेकर डेढ अध्याय से वेदाश्रय निरूपण है। पहिले तीन अध्यायों में कृष्णाश्रय, ढाई अध्याय में जगदाश्रय, डेढ़ अध्याय में वेदाश्रय, कुल ७ अध्याय द्वारा नव लक्षण लक्ष्यत्व-एवं जगत् की उत्पत्ति आदि कर्तृत्व, उभय लक्षण वाला आश्रय निरूपण किया। प्रकरण ४ तीन अध्याय ८।९।१० में भक्तिमार्ग कथन द्वारा 'भक्तिमार्गाश्रय' का निरूपण किया गया है। यह कर्ममार्गीय, उपासना-मार्गीय, भक्तिमार्गीय तीन भेद से तीन प्रकार का है।

प्रकरण ५ आगे तीन अध्याय ११-१२।१३। में भागवत मार्ग का निरूपण होने से 'भाग-वताश्रय' भौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, तीन भेदसे तीन प्रकार का कहा है। इस प्रकार छै अध्याय में, आध्यात्मिकादि तीनों को जानने वाला अक्षर पुरुषोत्तम रूप आश्रय का निरूपण है। तेरह अध्याय आश्रयलीला के पूर्ण हुए। यह भगवान् की सर्गादि लीला का वर्णन कहा है। भक्तिमार्गीय सर्गादि लीला का वर्णन भाग० द्वि० स्कं० अ० २ श्लो० १२ 'अदीनलीला' श्लोकका विवरण अ० ७ श्लो० २५ सुबोधिनी में किया है। (१) अदीनत्व, सर्ग है। अभिलषित वस्तु न मिलने से दीन होता है किन्तु प्रभु स्वयं सर्ववस्तु रूप से प्रकट हो तब अभिलषित वस्तु प्राप्त होने से दीनता (कंगालपना) दूर हो जाती है। इसलिये प्रभु में अदीनलीला है। सृष्टि (सर्ग) दो प्रकार की है, स्वार्था, तथा परार्था, परार्थ सृष्टि में भी जीवों की दीनता सृष्टि में ही चली जाती है। (२) लीलात्व, विसर्गलीला स्पष्ट है। हसितत्व-स्थान लीला है। इसमें भगवान नाट्य की तरह-प्रहसन रूप से तत्तन्मर्यादा में सबकी स्थिति करा कर हंसते हैं। अपने हंसने के

लिये ही मर्यादा में स्थापन करते हैं। परमार्थ भगवत्स्वरूप में, अर्थात् भगवान् में जब एकत्रित हो जाते हैं, तब मर्यादा स्थापन हो नहीं सकता (४), ईक्षणत्व, पुष्टि लीला है। जिसका भगवान् ईक्षण करते हैं, वे ही पुष्टि (कृपा पात्र, होते हैं (५) भ्रूत्व, ऊति है। जैसी अन्तःकरण में वासना होती है, वैसी ही भ्रुकुटि का चलना होता है (६) भङ्गत्व-सद्धर्म है। यही अपने स्थान से सबको भङ्ग करता है, (७) उल्लसत्व-ईशानुकथा है (८) वंश भगवान का उल्लास है। अथवा यथाक्रम में ऊति उल्लास है। जैसे प्रह्लाद और धर्म प्रमेय प्रमाण उल्लास है, तब वहां सद्धर्म भ्रूरूप होता है। भङ्ग, वंश होता है, वहाँ आत्मा भंग होती है। (९)संसूचितत्व, निरोध है। भूरित्व, मुक्ति है। एक भगवान् ही मुक्त है, और भी मुक्त होते हैं। (१०)अनुग्रहत्व आश्रय है। जो अनुगृहीत नहीं है, वह अपने में किसी को सर्वथा स्थापन नहीं करता है। साधन स्वरूप में श्री मद्भागवत पूर्वस्कन्ध उत्तरस्कन्ध का कारण अथवा साधन है। बारहों स्कंधों में पृथक् पृथक् प्रसङ्ग ही है, इनका परस्पर अङ्गों की तरह सम्बन्ध है, वास्तव में तो बारहो स्कंधों का कार्य कारण संबंध है। अधिकारी दैवी जीवों के साधन प्रथम स्कंध में है। साधन युक्तों को श्रवण द्वितीयस्कंध में, इसमें प्रथम सर्ग लीला तृतीयस्कंध में जिससे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। सृष्ट हुए जीवों को धर्मादि पुरुषार्थ साधन चतुर्थ में। जिनको पुरुषार्थ सिद्ध हो गया हो, उनका तत्तन्मर्यादा में स्थापन करना पंचम स्कंध में। अनन्तर स्थापित जीवों में से कुछ जीवों पर अनुग्रह करना षष्ठस्कंध में। पुष्टि में प्राप्त कुछ जीवोंपर अनुग्रह, एवं कुछ जीवों पर अनुग्रह न करना, इस विषमता-दोष दूर करने को वासना का वर्णन है, जैसी जिसकी वासना, वैसा उसको फल देऊंगा, इस प्रकार की मर्यादा का रक्षण किया सप्तमस्कंध में। फिर वासना से बंधन न हो, इसलिये सद्धर्म अष्टमस्कंध में। फिर सद्धर्म के पालन द्वारा निवृत्त होने पर भक्ति का वर्णन नवमस्कंध में। अनन्तर भक्तों को प्रेम, आसक्ति, और व्यसन पर्यन्त निरोध का वर्णन दशमस्कंध में। आसक्त भक्तों की स्वरूप में व्यवस्थिति एकादशस्कंध में। इस प्रकार सुव्यवस्थित भक्तों को भगवदाश्रय का वर्णन द्वादशस्कंध में है। यह भक्तिमार्गीय स्कंधव्यवस्था कही है। इस प्रकार श्री भागवत द्वारा भगवदाश्रयरूप महाफल की प्राप्ति होती है। श्रीमदाचार्य कहते हैं कि "एत-द्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः। अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति। धारणं पाठतस्तस्य भगवद्रूपत्वात्, तेन रूपेण भगवान् एव धृतः, हृदि स्थितः भगवान् यत्कार्यं करिष्यति तदनेनापि करि-ष्यति, अर्थतश्चेत् परितः ज्ञातः, तदा इदमित्थन्तया ज्ञानं भक्त्यङ्गमिति ज्ञातः सन् भक्तिं प्रयच्छति। इस भागवत के स्वरूप को धारण करने से साक्षात् भगवान हृदय में पधारते हैं। भागवत का धारण पाठ से होता है। इसका भगवद्रूप होने से, इस रूप से भगवान पधारकर हृदय में विराजते हैं। हृदय में स्थित भगवान जो कार्य करते हैं वही कार्य श्री भागवत करता है। यह परम फल है। यदि ठीक-ठीक भागवत का अर्थ जान ले तो भगवत्स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भक्ति का अङ्गभूत होने से भक्तिफल का दान करता है।

श्री वल्लभाचार्य ने सर्व श्रुतियों का समन्वय किया है, 'यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति' इत्यादि वाक्यानुसार पतिव्रता स्त्री अपना गूढभाव अपने पति के ही आगे कहती है, आप वाक्पति हैं। वल्लभाख्यान में भी श्री गोपालदास जी ने कहा है कि 'सारस्वती तजी आधि' अर्थात् अन्य किसी के द्वारा श्रुत्यादि के भाव का वर्णन यथार्थ नहीं कहा गया था, इसलिये सरस्वती के मन में जो मानसी व्यथा थी, वह वाक्पति द्वारा ही दूर की गई, इसी प्रकार 'श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशनपरायणः' आपने श्री भागवत का भी गूढार्थ प्रकाश किया, जो कि अन्य किसी ने नहीं

किया। श्री महाप्रभु जी भागवतार्थ में आज्ञा करते है कि 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे। एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥' सुबो० 'अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम्।' शास्त्र, स्कन्ध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य, पद, और अक्षर, ये सात अर्थों का एक समन्वय, जिस प्रकार भगवान षड्गुणैश्वर्ययुक्त हैं, उसी प्रकार भागवतार्थ भी स्कन्धादि अर्थ युक्त है। मनुष्य इस प्रकार जानने से ज्ञान का अवान्तर फल जो संसार से मुक्त होना, उसे प्राप्त करता है। इन सात अर्थों में से पहिले चार अर्थ भागवतार्थ प्रकरण में कहे गये हैं। शेष तीन श्री सुबोधिनी में कहे हैं, इस प्रकार भागवत के गूढार्थ समझाने के लिये भागवतार्थ प्रकरण, तथा श्री सुबोधिनी ये दो ग्रंथ श्री महाप्रभुजी रचित वैष्णवों को भागवतार्थ जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। श्रुति में 'द्वादशाङ्गो वै पुरुषः' द्वादशाङ्ग परुषोत्तम कहा है। इसी प्रकार भाग० निबं० 'इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः' 'पुराणं हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च' अर्थात् भागवत के द्वादशस्कंध पुरुषोत्तम के बारह अङ्ग हैं। अतः श्री भागवत श्रीकृष्ण स्वरूप शब्द से तथा अर्थ से है।

श्रीभागवत श्री जी का स्वरूप है, इस भावना का विस्तृत विवरण।

श्रीनाथ जी के विग्रह में मुनि, पक्षी, मेघ, सर्प, नृसिंह, नाग, मयूर, गौ, पर्वत, शङ्ख, सखा, इत्यादि चिह्न हैं। श्रीमस्तक पर शुक चिह्न है, वह श्रीशुकदेवजी की वाणी भागवतार्थ, स्कन्धार्थ, अध्यायार्थ, प्रकरणार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ, अक्षरार्थ अर्थात् प्रकृति प्रत्ययार्थ श्रीजी हैं। अतः शुकचिह्न है। तथा गोयुग्म चिह्न गोरूपा पृथिवी, वृषभ रूप धर्म से संवाद प्रथम स्कन्ध का स्मारक है। वहां नाग का चिन्ह, प्रथम स्कन्ध की कथा का सूचक है। ब्राह्मण बालक शृङ्गी ऋषि द्वारा शाप होने से तक्षक के भय से राजा परीक्षित श्रवण भक्ति के अधिकारी हुए। कालसर्प से भयभीत होकर श्री जी के नामश्रवण से ही कालभय निवृत्त होता है। द्वितीय स्कन्ध के वक्ता शुकदेव जी सदृश गुरु के उपदेश द्वारा संसारभय निवृत्त होता है। एवं इनके समान सर्व जीवों के सुहृद श्रीकृष्ण में प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न कराने वाले गुरु सर्व शिरोमणि होते हैं, इस भाव को प्रकट करने के लिये श्री मस्तक पर शुकचिन्ह है। वह शुकदेव जी का स्वरूप है। तृतीय स्कन्धार्थ दक्षिण स्कन्ध के ऊपर पीठक में एक 'मुनि' विराजते हैं। वे कपिलदेव मुनि सांख्याचार्य, देवहूति जिनकी माता है, कैवल्यमुक्ति के दाता हैं, प्रकृति का त्यागकर पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप हो भक्ति सहित सांख्य ज्ञान द्वारा सिद्धि को प्राप्त होता है। उक्त तृतीय स्कन्ध का स्मारक मुनि का चिह्न है। चतुर्थ स्कन्ध वामभाग श्रीजी के ऊर्ध्व हस्तपीठिका में दो 'मुनि' के आकार हैं। वे नरनारायण रूप श्रीजी ने ही धारण किये हैं। नीचे गौ का चिह्न है, वह पृथिवी रूप गाय को कामधेनु सदृश कर सबके मनोरथ पूर्ण करने के लिये आदि राज पृथु का अवतार श्री जी ने ही धारण किया है। इस चतुर्थ स्कन्ध की कथा का स्मारक है। पञ्चम स्कन्ध में पृथ्वी विभाग, ज्योतिष विभाग का श्रीशुकदेव जी ने वर्णन किया है। नीचे चरणारविन्द में 'पर्वत' का चिह्न है। वह आदि ब्रह्म कल्प में जो श्वेतवाराह कल्प है, उसमें जो पृथिवी है, उसके स्तनमण्डल के आकारसदृश है, वह पृथिवी समग्र भगवच्चरणतल के स्पर्श से पवित्र है। और चरण स्थित चिह्नों से चिह्नित है। ब्रह्मादि देवता भी इसमें जन्म लेकर भगवद्भक्ति द्वारा कृतार्थ होते हैं। भगवच्चरण स्वरूप गिरिच्छत्र की छाया में हम सब भक्तजन रहते हैं। जिस प्रकार श्री गोवर्धन पर्वत भगवच्चरण चिह्न से चिह्नित हैं, उसी प्रकार हमारा देह है, इस अभिलाषा को ब्रह्मादिक करते हैं कि पर्वत के सदृश हमारा भार दृढ रहै। भगवच्चरण

तल स्पर्श करने वाली पृथिवी से ही भगवान के भक्तों के शरीर बने हैं। अतः श्रीजी के चरण के नीचे पूर्वत का चिह्न है। भगवच्चरण के प्रभाव से ही सब समुद्र पृथ्वी मर्यादा में वर्तमान हैं। समुद्र में ही शङ्ख होता है। वह समुद्र का सूचक है। पञ्चम स्कन्ध में कालचक्र का भी वर्णन है, वह कालचक्र मेषराशि से प्रारम्भ होता है, अतः मेष राशि का चिह्न है। नृसिंह, सिंहराशि का गो वृष राशि का आकार है। भारतवर्ष में सेव्य नर नारायण हैं। इत्यादि समग्र पृथिवी-मण्डल की वस्तु श्रीजी की आज्ञा में रहती है। अब वामहस्त ऊर्ध्व है, वह ज्योतिष चक्र भूर्भुवः स्वः आदि सप्तलोकों को धारण करने वाला है। इसके सम्बन्ध से तत्तल्लोकनिवासी इन्द्रादिक अनेक प्रकार के सुख प्रजापति के आनन्द पर्यन्त भोगते हैं। इस श्रीहस्त के सर्वलोक ऊपर के आधेय हैं। और वाम अंगुली का अग्रभाग आधार है। इस मर्यादा लीला का स्वरूप पञ्चम स्कन्ध में है। इसी भाव को सूचन करने वाला ऊर्ध्व वाम श्री हस्त है। एक गाय चरणारविन्द के पास है। चरणारविन्द पृथ्वी स्वरूप है। इसी पृथ्वी अदिति के दो स्वरूप हैं। भूमण्डल, तथा द्यौमण्डल, गोस्वरूप हैं। द्यौमण्डल कामधेनु गो स्वरूप है। 'इयं वाव अदितिः, असौ वाव अदितः इति श्रुतेः, पृथिवी वाव गौः, इति श्रुतेश्च' अर्थात् दोनों गोस्वरूप हैं।

षष्ठ स्कंध का भाव सर्वलोक निवासी जीव जब मर्यादाधर्म के यथावत् परिपालन में असमर्थ हो जाते हैं, तब कालकर्म स्वभाव द्वारा पीड़ित होकर अत्यन्त दीन हो जाते हैं। उस वक्त जीवमात्र के ऊपर वात्सल्य के कारणं भगवान अनुग्रह करते हैं, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ा के ऊपर अत्यन्त प्रेम करती है, यद्यपि वह बछड़ा गाय का अपराध भी करता है, तथापि वात्सल्य को नहीं छोड़ती। यह अनुग्रह का स्वरूप गाय में है। पुष्टि-पोषण, अनुग्रह कृपा, इनका एक ही अर्थ है। अतः निज जनरूपी वत्स के ऊपर मेरा गाय के सदृश वात्सल्य-अनुग्रह है। इस भाव का सूचन द्वितीय गौ का चिह्न करता है। इस प्रकार दो गाय के चिह्न पुष्टि को जिसका षष्ठ स्कन्ध में वर्णन है, सूचित करते हैं। आपके वाम भाग में नृसिंह जी का चिन्ह है। वह भी भक्तोद्धारक आप ही ने धारण किया है। सप्तम स्कन्ध में ऊति लीला है नृसिंह रूप धारण करके ऊति लीला दृढ दिखाई है। अर्थात जीव में दो प्रकार की वासना रहती है। एक शुभ वासना, दूसरी अशुभ। जो पुरुष भक्तिमार्ग में चलने वाले भक्त की अवज्ञा, एवं स्वाभिमान द्वारा शास्त्रोक्त आज्ञा की उपेक्षा, अर्थात् पालन नहीं करता है, और भगवान से द्वेष करता है, भगवदीय का तिरस्कार करता है, उन जीवों की असद्वासना, और जो अभिमान को छोड़ कर जीवमात्र पर दया प्रेम करता है एवं भक्त की आज्ञा, तथा शास्त्रोक्त भगवान की आज्ञा का पालन करता है, सर्वत्र भगवद्बुद्धि करता है, सद्वासना होती है। इन दोनों वासनाओं के कर्ता भगवान हैं। सद्वासना वाले प्रह्लाद सदृश, असद्वासना वाले हिरण्यकशिपु सदृश होते हैं परन्तु भगवान अपने भक्तों को यक्षबलिन्याय से उचित अनुग्रह कर कृतार्थ करते हैं। इसी प्रकार श्रीजी भी करते हैं। यक्ष जिस प्रकार की योग्यता वाला होता है, उसे उसी प्रकार की बलि दी जाती है, यह यक्ष बलिन्याय है। इस सप्तम स्कंध के स्मरण कराने को श्रीजी के वाम-भाग में नृसिंह जी का आकार है। अष्टम स्कंध में मुख्य लीला अमृतमंथन की है। बलि राजा का सर्वसमर्पण आपने अङ्गीकार किया, सर्वोपकार की बुद्धि तथा सर्वस्व निवेदन की बुद्धि जब भगवान ही कृपा करते हैं, तब होती है। अमृत निकालने के लिये भगवान ने देवताओं को सलाह दी, देवता असुर सब मंथन करने को तय्यार हुए। मंदराचल को मंथनदण्ड बनाया, आप कूर्म रूप धारण कर आधार हुए, किन्तु रज्जु बिना मंथन हो नहीं सकता, अतः वासुकि नाग को रस्सी बनाया, वह नाग का चिह्न श्रीनाथ जी के वाम भाग में है।

इससे यह सूचित हुआ कि वासुकि नाग की तरह भक्त जीव को परिश्रम करके भगवान का कार्य करना चाहिये। इस प्रकार परोपकार करने की बुद्धि तब होती है, जब यह जीव १४ मन्वन्तर में १४ प्रकार के सद्धर्म हैं उनका परिपालन कर त्रिमूर्ति रूप भगवान की प्रसन्नता से कृतार्थ होता है। समुद्र मंथन करने में वासुकि प्रमुख है। श्रीनाथ जी मुष्टि बांध कर द्वार पर खड़े वामन जी की लीला का स्मरण करा रहे हैं। मेरे भक्त ने सर्वस्व समर्पण कर दिया है। 'अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनि वेदनम्। यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥' यह श्रीमदाचार्य चरण का उपदेश है। जिस प्रकार बलि राजा ने वामन जी को आत्मसर्वस्व, आत्मनिवेदन किया, और भगवान भी कृतघ्नतादोष निवृत्त करने के लिये द्वारपाल बन कर सदा के लिये खड़ा हो गये। उसी प्रकार पुष्टिमार्गीय आत्मस्वरूप अपना सर्वनिवेदन करने वाले भक्तों के अर्थ, मैं द्वार पर खड़ा हूं इस अष्टमस्कंध के भाव को बतलाने के लिये श्रीजी निकुञ्ज द्वार पर खड़े हैं। नवम स्कंधार्थ ईशानुकथा (भक्ति) है।

भक्ति में स्त्री पुरुष दोनों को ही अधिकार है। बिना प्रयोजन (कारण) प्रेम करना उत्तम भक्ति का स्वरूप है। जो वैष्णव धर्म का यथावत् प्रतिपालन करता है, उसका भगवान में प्रेम होता है। इस प्रकार के भक्तों के लिये भगवान अवतार लेते हैं सूर्यवंश में दशरथजी के यहाँ श्रीरामचन्द्र का अवतार और चन्द्रवंश में वसुदेव जी के यहाँ श्री कृष्णचन्द्र जी का अवतार हुआ। इस जगत में निरुपाधि प्रेम भक्ति का स्वरूप मोरपक्षी के जोड़ा में है। वह भाव नवम स्कंध में वर्णित है। उसके स्मरण करने के लिये मयूर के जोड़ा का आकार श्री जी के वाम भाग पीठिका में है। मयूर का निष्कारण प्रेम मेघ के साथ होता है।

दशम स्कन्ध में पाँच प्रकरण हैं। प्रथम ४ अध्याय का, द्वितीय अट्ठाइस का, तृतीय अट्ठाइस का, चतुर्थ इक्कीस का, पंचम ६ अध्याय का है। वहां प्रथम प्रकरण में प्राकट्य चतुर्व्यूहविशिष्ट स्वरूप पुरुषोत्तम का संपूर्ण शक्तियों के साथ प्रपंच में लीला करने के लिये हुआ है। श्रीनाथ जी अपने लीलापरिकर सखाओं के साथ कटि में हस्त धरकर और वाम बाहु ऊर्ध्व करके नृत्य लीला का भाव दिखा रहे हैं। तामस, राजस, सात्विक भक्त जीवों में गुण हैं। अतः श्रीजी की पीठिका में सर्पनाग तामस हैं, पशु-पक्षी, मेष, गाय, मयूर, शुक राजस हैं। मुनि तीन सात्त्विक हैं। राजस सात्त्विक नृसिंह जी हैं। अत्यन्त तामस नागकालीय और सुदर्शन हैं, इनका आपने उद्धार किया है। यह तामस प्रकरण की लीला सूचक तथा गायों में अरिष्टासुर और मेषलीला कर व्योमासुर का उद्धार किया, यह राजस प्रकरण स्मारक चिह्न है। सात्त्विक प्रकरण में सर्वमुनियों के लिये ब्रह्मवाद का उपदेश कुरुक्षेत्र ग्रहण प्रसङ्ग में किया।

इस लीला के स्मारक तीन महर्षियों के चिह्न हैं। नृसिंह जी कौस्तुभमणि के अवतार हैं, कौस्तुभमणि भक्तद्वेषियों का संसार में पतन कराती है। इसीसे सात्त्विक राजा युधिष्ठिर के द्वेषी कौरवादि का मोक्ष न होकर स्वर्गादि की प्राप्ति हुई, तथा रुक्मी आदि भी रामकृष्ण के द्वेष से स्वर्ग में गये मुक्त न हुए। यह सब लीला आधिदैविक स्वरूप कौस्तुभमणि की है। आधिदैविक स्वरूप गुप्त रहता है। आधिभौतिक आधिदैविक का स्मरण कराता है। वामहस्त ऊँचा करके गायन की रक्षा की, पशुपक्षियों को निरोध सिद्ध किया, पर्वत का आकार चिह्न, श्रीगोवर्धन पर्वतधारण लीला का स्मारक है भगवान् षडैश्वर्यवान् हैं। ऐश्वर्य गुण द्वारा जगत का ईशन करते हैं। जगत् जड़ तथा चेतन है, उसके अन्तर्यामी नृसिंह जी नियामक हैं। देव ऋषि मनुष्यों को उत्तमगति देने वाले हैं। सबके बल हैं। सप्तवर्ष की वय में गोवर्धन धारण

किया, यह वीर्य है। सर्व देव-मुनि-वेद स्मृतिपुराण आपका यश बखान कर उच्चतम होते हैं। यह यश श्रीकण्ठ में वनमाला श्रीलक्ष्मी जी ने पहना कर अपना पति बनाया, वह वनमाला श्री लक्ष्मीजी का स्मरण करा रही है। यह श्री गुण अपना श्रीहस्त ऊँचा कर यह बतला रहे हैं कि ज्ञान वही है, जिससे सर्वोच्च गति हो एवं सर्व अपराधों को भस्म कर दे, यह श्री हस्त उच्च ज्ञान का चिह्न है। मुनि जीव आपके ऊपर हैं। आप उनके नीचे निरहंकार होकर द्वार पर खड़े हैं। यह ज्ञान हुआ। अपना स्थान गोलोक, लक्ष्मी पत्नी, सुन्दर सुन्दर महल, उसमें अने भोग्य-वस्तु तथा अनेक दासी दासादिका परित्याग करके श्रीवृन्दावन के निकुञ्ज में गुञ्जा धातु आदि से विभूषित दिगंबर विराजते हैं, यह वैराग्य हुआ। भक्तों ने आपका अपने में निरोध किया, एवं आपने भक्तों का अपने में निरोध कर प्रपंचासक्ति छुड़ाकर संसार से मुक्त किया। भक्तों ने आपको संसारी एवं प्रपंचासक्त की तरह कर दिया। इस प्रकार दशमस्कंधका भाव सूचित करते हैं।

एकादश स्कन्ध में मुक्ति लीला का वर्णन है। अष्टाविंश (२८) तत्त्वात्मक विश्व में जीव प्रकृति माया के सम्बन्ध से अपनी देह में अहंता ममता कर रहा है। इसके दूर होने पर ही ज्ञान-भक्ति द्वारा मोक्ष होता है। इसके स्मारक दो सर्प के आकार हैं। सर्प के ऊपर जब केंचुली (केचुआ) हो जाती है, तब सर्प अन्धा हो जाता है, और उसी केंचुली के भीतर घुसा रहता है। केंचुली का त्याग करने पर ही स्वतन्त्र एवं अन्धापन से दूर होकर देखता है। इसी प्रकार जीव इन्द्रियों के भोगों में जब आसक्त हो जाता है, तब अन्धा हो जाता है। जिस समय विषय रूप केंचुली को त्याग देता है, उसी समय उसे कुछ दीखता है। एक इन्द्रिय से अनेक इन्द्रियों का कार्य करता हुआ भी इन्द्रियों के आधीन होने से उसकी गति नहीं होती। इस प्रकार की स्थिति जब विश्वमाया निवृत्ति हो जाती है, तब होती है। भगवान् भी अहंता-ममता वालों का सा नाटय दिखा रहे हैं। अतः व्यामोहकता का त्यागकर अप्राकृत अखण्ड सच्चिदानन्द एक रस श्रीजी का स्वरूप जानना चाहिये। 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं वाचो ह वाचं मनसो मनः' 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' 'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आप विरुद्ध धर्माश्रय हैं। आपके स्वरूप में द्विहस्त द्विपाद इत्यादि द्वादशांगो वै पुरुषः, द्वादशांग पुरुष रूप द्वादश स्कन्धात्मक शब्द रूप (नाम रूप) से क्रीडा करते हैं।

द्वादश स्कन्ध में आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, तीन प्रकार का आश्रय है। तीनों में परस्पर सापेक्षता है। एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं होती। अधिभूत प्रपञ्च, आध्यात्मिक पुरुष जीव, आधिदैविक अन्तर्यामी अक्षर है। अब इनमें अवलम्ब का विचार किया जाय तो दो अवलम्ब, और एक आश्रयदाता हो, और इन तीनों के स्वरूप का ज्ञाता अलग हो तब ही बन सकता है। जिस प्रकार दश पुरुष थे, उनमें से एक गणना करने वाला अपने को भूल कर गणना करता है, तब नव ही गणना में होते हैं, दश पूरे नहीं होते। इसी प्रकार दशों ने गिनती की, तब भी नव ही गिने गये, दस नहीं गिने गये। तब ग्यारहवें ने आकर दश संख्या गिन कर पूरी कर दी। अर्थात् समुदाय के भीतर रहने वाला अपने स्वरूप से बाहर नहीं रहता, इसीलिये अपने स्वरूप को नहीं जानता, समुदाय से जो बाहर है, वह उसके स्वरूप को जानता है। इसी प्रकार आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक, परस्पर अपने स्वरूप को नहीं जानते, इनसे जो विलक्षण श्रीपूर्ण पुरुषोत्तम, वह इन तीनों के स्वरूप को जानते हैं, एवं अपने स्वरूप को भी जानते हैं। अतः द्वादश स्कन्ध का अर्थ आश्रय हैं। इसका लक्षण द्वितीय स्कन्ध अ० १ श्लोक ९ में 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' कहा है। अधिभूतादि त्रितय में एक भी अलग होता है

तो फिर प्राप्त नहीं होता, अर्थात् एक भी, दोनों जब होंगे तभी प्राप्त हो सकेगा, अतः 'सापेक्ष-मसमर्थं भवति' सापेक्ष असमर्थ होता है। इसलिये परस्पर भी एक को एक नहीं जान सकता। अन्तर्यामी भी अपने व्यापार में लगा रहता है। इनके बीच में प्रविष्ट भी त्रितय को नहीं जानता। अतः भगवान् परब्रह्म परमात्मा ही आश्रय हैं। यह द्वादश स्कन्ध में कहा है। इसी का स्मरण कराने को श्रीजी सबसे अलग कन्दरा के द्वार पर ठाड़े हैं। तीन ऋषियों के आप आश्रय हैं, एवं सर्वाश्रय हैं। इस प्रकार समस्त श्रीमद्भागवतार्थ शास्त्रार्थ, श्रीजी के स्वरूप में दर्शन कर शुद्धाद्वैत सम्प्रदायाचार्य श्री वल्लभ प्रभु ने स्ववंश तथा सेवक भक्तों के सेवार्थ श्रीजी का स्वरूप सेव्यप्रधान बतलाया है।

श्री वल्लभाचार्य अहर्निश श्रीमद्भागवत की आवृत्ति श्रीमुख से करते थे एवं सबको उपदेश करते थे। 'तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम। वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥' यह अष्टाक्षर भी द्वादश स्कन्ध का स्मारक है। प्रथम स्कन्ध से नवम पर्यन्त कृष्ण सदानन्द के अर्थ का वर्णन स्वरूप दशम स्कन्ध, एकादश 'मम' का और द्वादश आश्रय 'शरण' का अर्थ है। इसको जानकर जो निरन्तर उक्त मन्त्र का अभ्यास करता है, वह समस्त श्रीभागवत का ही अभ्यास करता है। प्रथम से पंचम स्कंध तक 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः' इसका अर्थ हुआ। षष्ठ से नवम तक 'णश्च निर्वृतिवाचकः' इसका और 'तयोरैक्यं परं ब्रह्म' यह श्रीकृष्ण शब्दार्थ दशम स्कन्धार्थ है। इसी प्रकार जीव के आश्रय श्रीपूर्णपुरुषोत्तम शरण शब्दार्थ द्वादश स्कन्धार्थ है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस प्रकार उक्त भावना श्रीमद्भागवत की है। फल प्रकरण में भगवान ने तामसी भक्तों को स्वरूपानन्द का दान करके सम्पूर्ण निरोध सिद्ध किया है। यह पहले कह चुके हैं कि भगवान् स्वयं रसरूप हैं। अन्य भक्तों को आनन्द प्रदान करते हैं, जिस जीव पर भगवान् की कृपा होती है, उसको स्वयं भजनानन्द का दान (स्वरूपानन्द का दान) करते हैं। भजनानन्द विषयानन्द तथा ब्रह्मानंद से भिन्न है एवं उत्कृष्ट है श्रेष्ठ है। इसलिये पुष्टिमार्ग में इसको परमफल माना गया है। किन्तु इसकी प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह बिना नहीं हो सकती 'नायमात्मा' अनुग्रह दीनता बिना नहीं होता। रसों में श्रेष्ठ होने से भगवान् शृङ्गार रसात्मक हैं। रसात्मक स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्द भोगता है। भगवान् पूर्ण ज्ञानैक घन परमानन्द स्वरूप की समस्त कामादि लीला मुख्य है, अनुकरण मात्र नहीं हैं। इसमें प्रिया विप्रयोग जनित क्लेशादि होने से भी पूर्णत्व भङ्ग नहीं होता। क्योंकि प्रभु विरुद्धधर्माश्रय हैं। यदि कहो कि भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर उनको कामादि लीला करने का प्रयोजन भी तो नहीं मालूम पड़ता, इसलिये मुख्य न मानकर अनुकरण मात्र क्यों नहीं मान लेते ? इसका उत्तर— आपका कहना ठीक है, परन्तु भगवान् का स्वरूप एक श्रुति ही द्वारा जाना जाता है। श्रुति में 'सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' ब्रह्म सर्वकामरूप, सर्वरस रूप, सर्वरस भोक्तृ रूप है। तैत्तिरीय श्रुति में भी 'रसो वै सः' ब्रह्म को रसरूप कहा है। रस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे रसना से ग्रहण होने वाले गुण में द्रव (पतले) द्रव्य में, सारभूत अर्थ में आस्वाद्य-आनन्दजनक वस्तु में, रस शब्द प्रसिद्ध है। किन्तु यहां पर तो रस शब्द का अर्थ 'रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'एष ह्येव आनन्द 'याति' अर्थात् परमात्मा रसस्वरूप है, रसात्मक स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्द भोगता है। जो हृदयाकाश में रसरूप आनन्द न हो तो कौन सा जीव प्राणधारण कर सकता है अर्थात् आनंद बिना प्राणधारण ही नहीं हो सकता। वस्तुतः रसरूप भगवान् ही जीवों को आनन्द देते हैं, उक्त प्रमाण से स्पष्ट हुआ कि हृदय में रहने वाला जीवों को आनन्द देने वाला, जो आनन्द वही

रस है। उपनिषद में आनन्द की गणना प्रत्येक के आनन्द से शतगुणी की है। यह गणना तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अतिमहत्व की है।

मनुष्य के आनन्द से प्रारम्भ करके अनन्तर मनुष्य गन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति पर्यन्त आनन्द की गणना करने के बाद ब्रह्म के आनन्द का निर्देश किया है। अर्थात् मनुष्यादि समस्त के आनन्द से ब्रह्मानन्द को अधिक कहा है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' उक्त श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मवित्, (ब्रह्म को जानने वाला) परं—रसस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' इसके अनन्तर, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय का वर्णन करके 'रसोवै सः, 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा' कहा है। आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर 'सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' वह ब्रह्म के साथ अभिलषित समग्र भोगों को भोगता है। उक्त श्रुतियों से यहां रस शब्द का अर्थ आनन्द प्राण धारण प्रयोजक हृदयाकाश में स्थित आनन्दजनक है। अतः सिद्ध हुआ कि, हृदय में स्थित, जीवों का, आनन्द को उत्पन्न करने वाला जो आनन्द, वह रस है। यद्यपि आनन्द उत्पत्ति रूप कार्य का शरीर के प्रत्येक अवयव में अनुभव होने से सर्वशरीरव्यापी है। तथापि 'समानसीन आत्मा जनानाम्' इस श्रुत्यन्तर से मन में ही आनंद की विशेष स्थिति निश्चित की गयी हैं। इस प्रकार 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतमुनि सूत्र प्रमाण से रसशास्त्र प्रणाली (रीति) द्वारा जायमान जो मन का विकार प्रमोदात्मा वह रसात्मक भगवान् का ही कार्य रूप है। 'एष ह्येव आनन्दयाति' इस श्रुतिप्रमाण से आनन्द रूप ही प्रमोदात्मा, भगवान् का अंश भूत है। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इसी आनन्द की मात्रा से अन्य समस्त प्राणि उपजीवन करते हैं। इसी से प्रकृष्यमाण उसमें लोगों को रसत्वप्रतीति होती है। इस प्रकार का प्रयोग ब्रह्मादिकों में पुरुष प्रयोग की तरह भाक्त (गौण) है।

यदि कहो कि आनन्द मात्र का स्वरूप ही इस प्रकार का है, प्रणाली में ही प्रकार विशेषता क्या है ? इसके उत्तर में—रस स्वरूप ही ऐसा है। इसलिये प्रणाली में ही विशेष है। तो इसमें क्या प्रमाण है। इसका उत्तर—जिस प्रकार लौकिक रस रीत्यनुसार प्रकट होता है, उसी प्रकार लौकिक दृष्टान्त द्वारा अलौकिक में भी अनुमान कर सकते हैं। 'अलौकिको रसः प्रणालीविशेषाभिव्यङ्ग्यः, रसत्वात् लौकिकविप्रयोगादिरसवत्, कारणधर्माणामेव कार्येऽभिव्यक्तेः, संदेहनिरासाच्च।' अलौकिक रस प्रणालीविशेष से अभिव्यञ्जित होता है, रस होने के कारण लौकिक विप्रयोगादि रस की तरह। कारण धर्मों की ही कार्य में अभिव्यक्ति होने से, और संदेह निरास होने से। ब्रह्मता होने से अनित्य भी नहीं हो सकता। अतः मन का विकार भी नहीं है, अनेक रूपता दोष भी नहीं है। क्योंकि अनेकरूपता प्रणाली से होती है। इसलिये वास्तविक रूप का बाध नहीं होता।

'अनंतरूपम्' इस श्रुतिप्रमाण से अनंतरूप भी वास्तविक है। पूर्व कहने से सिद्ध हुआ कि परब्रह्म ही रसशास्त्र में कहीं प्रणाली (रीति) के अनुसार हृदय में आविर्भूत सद्रस है। शास्त्र में प्रगल्भा के लक्षण में 'रतिप्रीतिरानंदात्संमोहः' रतिप्रीति में आनंद से संमोह होता है। इसका उदाहरण 'नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः, (न) शपामि यदि किञ्चिदपि (न) स्मरामि' है। आनंद तामसप्रधान होता है। अतः वहां चिदंशन्यग्भूत (तिरस्कृत) हुआ रहता है। यदि चिदंशन्यग्भूत न हो तो अनुभव ही असम्भव हो जाय। अतः 'कृषिर्भूवाचकः',

इस श्रुति में सदानन्द कृष्ण कहा है। यद्यपि महानंद में सत्ता का भी वैसा भान नहीं होता, तथापि सत्ता को सर्वत्र होने से अनुमान तो होता ही है।

यदि कहो कि भू शब्द का अर्थ सत्तावाचक होने से सत्तानन्द होता है, न कि सदानन्द। इसका उत्तर-सत्ता को आत्मरूप होने से धर्मता नहीं है। यह व्याकरणमत से सिद्ध है अतः परब्रह्म को सदानन्द होने से प्रणाली द्वारा आविर्भूत होने पर भी सदानन्दत्व ही है। यदि कहो कि पूर्वोक्त 'समानसीन' श्रुति द्वारा अतिगुप्त ब्रह्म को रसत्व कहा है तो बाहर आविर्भूत भगवान को गुप्त न होने से रसत्व का अभाव होगा। इस शंका के उत्तर में हमको यही कहना है कि अब तक जितना वर्णन किया है उसमें भगवान के बाहर प्रकट का नहीं, किन्तु हृदय में प्रकट का उपपादन किया है। यह प्रसङ्ग 'बर्हापीडं' इस श्लोक के स्वतन्त्र वर्णन में कहा है। भगवान जिस काल में बाहर दीखते हैं उस काल में भी आसक्तिभ्रमन्याय से मनमें रहनेवाले ही दीखते हैं, अतः गुप्त ही होने से रसत्व का बाध नहीं होता। जब कोई विप्रयोग से व्यग्र विदेश में जाने वाले अपने इष्ट जन का निरन्तर ध्यान करता है, तब ध्यान महिमा से बाहर अपने इष्ट को प्रत्यक्ष कर देखता है। इसको आसक्तिभ्रमन्याय कहते हैं। तो फिर वृत्तिविशेष रूप हुए। भगवान नहीं रहे। इसका उत्तर-लोक में वृत्ति द्वारा ग्राह्य पदार्थ देशकाल से परिच्छिन्न होते हैं अतः उस देश में इष्ट का अभाव होने पर भी विरहादि में संस्कार प्रबल होने के कारण वृत्ति के निर्गमन से व्याप्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह नहीं, क्योंकि देशकाल से परिच्छिन्नता नहीं है। किन्तु अनन्य भक्ति द्वारा लभ्य होने से जिस प्रकार की भक्ति उसी प्रकार का वहाँ आविर्भाव होता है। वह भक्ति मन का धर्म है। इसलिये भक्ति द्वारा प्रकट होने से बाहर आविर्भूत को मानसी न होने के कारण वृत्ति विशेष रूप नहीं है, भगवान नहीं हैं।

मायावादियों के मतमें वृत्ति से अवच्छिन्न (आवृत) और विषय से अवच्छिन्न दोनों चैतन्यों का एक गतिभाव होने से बाहर स्थित को वृत्त्यवच्छिन्न होने पर भी वृत्तित्व के अभाव की तरह कहा जाता है। शुद्धाद्वैतसिद्धान्त में तो पहले कथनानुसार ही है। शंका-ठीक है आपके कथनानुसार गुप्त ब्रह्म को रसत्व है तब भी प्रकृत के अनुरोध से शृङ्गारात्मकता ही कहनी चाहिये। शृंगारात्मकता में परस्पर एक की दूसरे को अपेक्षा होने से स्त्री पुरुष दोनों की आलम्बनाधीन स्थिति होती है। इसलिये यहां भी अङ्गीकार करना चाहिये। इसका उत्तर, इस प्रकार मत कहो, यहाँ आलम्बन का भी सत्त्व है। 'कामिनां दर्शयन् दैन्यं' इस श्लोक के सत्ताईस अध्याय की टिप्पणी में रसात्मक, और रसवान् भगवान ही हैं, यह कहा है। "पूर्वमात्मारामत्वोक्त्या तादृशोऽपि सन् यन्नायिकाऽधीनत्वमेवं भजते, तेन रसात्मको रसवांश्च भगवानेव, अन्ये तु कामिनो रसाभासिनो मलपूर्णे वस्तुनि आसक्त्या बीभत्सरसपूर्णा भ्रांताः सन्तस्तादृशेष्वेव दैन्यमात्रफलं लभन्त इति ज्ञाप्यते।" पहले आत्माराम कहे, आत्माराम होते हुए भी जो नायिका की अधीनता इस प्रकार स्वीकार करते हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि रसात्मक रसवान भगवान ही हैं। अन्य सब कामी रसाभासी मलपूर्ण वस्तु में आसक्ति द्वारा बीभत्सरसपूर्ण, भ्रान्त होते हुये, इस प्रकार की नायिकाओं में दैन्यमात्र फलको प्राप्त होते हैं। अतः यहाँ भी रसात्मक रसवान् भगवान ही हैं। लौकिक की तरह परस्पर साकांक्षता नहीं है। आलम्बन भी भगवान ही हैं। इसमें विरोध नहीं, क्योंकि श्रुति में कहा। श्रुति सर्वसम्मत मूर्द्धन्य होती है। जिस प्रकार अन्य लोगों को काम द्वारा कामवत्त्व है, काम को तो स्वतः ही कामवत्त्व है। उसी प्रकार औरों को रसद्वारा रसवत्त्व है। रसको तो स्वतः ही रसत्त्व है। इस लिये विरोध नहीं। अतः बाहर आविर्भूत भगवान को रसत्व होने में कोई बाध नहीं होता।

रसों में शृङ्गार रस को भरत सूत्रादि में मुख्य कहा है। वह शृङ्गार रस रत्याख्य स्थायि भाव स्वरूप है। 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः' (साकाव्यप्रकाश) अतः भगवान् का रसरूपत्व, रसवत्व अवश्य कहना चाहिये। रसरूपत्व निरूपण-व्रजसुंदरियों का भाव (रस के अनुकूल विकार रूप) आलम्बन विभाव, उस भाव के अनुसार ही सब करना भगवान् का रसरूपत्व है। रसरूपत्व, आलम्बनत्व, का वर्णन 'बर्हापीडम्' 'अक्षण्वताम्' 'चूतप्रवाल' इत्यादि श्लोकों के विवरण में श्री आचार्य ने विशेष किया है। यहां तो दिङ्मात्र दिखाया गया है। भगवान् भी व्रजभक्तों में वैसे ही भाववान् होते हैं। अतः, आलम्बनत्व भी है। क्योंकि भगवान् में भाव स्वरूप से पृथक् नहीं है। नहीं तो, भावों की रसरूपता के अभाव में पूर्व श्रुति से कहा रसभोक्तापन, तथा रसरूपपन, भङ्ग हो जायगा। यह भगवद्रूप रस इस प्रकार का ही है। अतः जैसा श्रुति में कहा है, वैसा मानना चाहिये। जितनी इस रस की मर्यादा है, उतनी सभी भगवान् में है, यह मानना चाहिये। नहीं मानने पर रसत्व ही नहीं होगा। इसमें संयोग विप्रयोग दो भेद हैं। विप्रयोग में संयोग की अपेक्षा भी अधिकता है। इसको प्रकट करने के लिये प्रियाविप्रयोग, और उससे हुए क्लेशादिकों का सहन है। वास्तव में तो यह आनन्दरूप ही है। जब कि लौकिकों द्वारा रसत्व साधने के लिये भावोंको रसरूपताके अभाव में प्राप्त होता है, तब परमात्मा के विषय में शङ्कापङ्ककलङ्क क्यों करते हो। कामलीला को अनुकरण मानने पर, न तो भगवान् में ही रस प्राप्त होता है, और न व्रजभक्तों में रस की उत्पत्ति होती है। अतः अन्योन्य रस का आविर्भाव न होने से रसत्व ही वहां नहीं है, यह रसशास्त्र की मर्यादा है, अनुकरण नहीं। इसलिये गजदृष्टान्त सर्वत्र दिया है। 'आत्तगजेन्द्रलीलः' 'यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः' 'श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः'। इत्यादि। जिस प्रकार गजेन्द्रलीला में अनुकरणता नहीं है, उसी प्रकार यहां भी नहीं है। अतः भगवान् शृंगाररस रूप हैं। संयोग, वियोग रूप शृंगार रस के समग्र कार्य, भगवान् का संगम आदि और उसके सर्व कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें ब्रह्मता की क्षति नहीं होती। क्योंकि वह वस्तु ही इस प्रकार की है। ब्रह्म विरुद्ध सर्वधर्मों का आधार है इस हेतु से, तथा श्रुतिभक्तों के अनुभव सिद्ध होने के हेतु से, ब्रह्मगत धर्मों में विरोध ही नहीं है। प्रत्युत ब्रह्मत्वसाधन करने वाले ही हैं।

यदि हठाग्रह से ब्रह्म में आत्मारामत्वादि ही गुण हैं, अन्य शृङ्गाररस प्रयुक्त प्रिया विप्रयोगादि धर्म नहीं हैं, यह मानते हो तो, इसके उत्तर में हम यह कहते हैं कि आपका कहना ठीक है। परन्तु वह ब्रह्मधर्ममर्यादा है। यहां तो भक्तों के ऊपर अत्यन्त अनुग्रह द्वारा, और उनकी भक्ति के अतिशय से, अपनी स्वरूप मर्यादा का अतिक्रमण करके भक्ताधीन होते हुए, जिस प्रकार भक्तों का अभीष्ट सिद्ध होता है, उसी प्रकार की लीला करने को, उक्त सर्वभावों को स्वयं ही प्राप्त होते हैं यह भगवान का पुष्टिरूप है, मर्यादा रूप नहीं है। जैसा कि भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' यहां दो सत्पद कहने से अपने को भक्तों के अधीन कहा। भक्तों की शरणागति मायारहित बतलाई है। अतः वश होने पर अपनी सत्ता भी नहीं रहती। तब भी भगवान् की अनीशता भङ्ग नहीं होती, किन्तु यह महदैश्वर्यरूपता है, दूसरा कोई स्वरूप मर्यादा का त्याग नहीं कर सकता। इसी से 'भिन्नसेतुः' यह विशेषण कहा है। अतः श्रुति भी भगवान् की अचिन्त्य महिमा कहती है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इस विषय में जितनी शङ्कायें की जायँगी, उतना ही अधिक ब्रह्मत्व सिद्ध होगा।

नाट्यशास्त्र में भी शृंगार रसका देवता विष्णु–(वेवेष्टीति विष्णु) कहा है। इससे भी भगवान् श्रीकृष्ण रसात्मक स्वरूप का समर्थन होता है। रासलीला का प्रसङ्ग कुछ प्रकारभेद से हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, भविष्योत्तरपुराण, गर्गसंहिता काव्य नाटक आदि साहित्य में भी कहा है।

काव्यशास्त्र नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में तीन भेद कहे हैं। रासक, नाट्यरासक, हल्लीसक, इन तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण भी कहे गये हैं। भोज तथा शारदातनय, काव्यशास्त्र के लेखकों ने रासक, तथा नाट्यरासक नृत्य के दो भेद बताये हैं। इन्होंने रासक का लक्षण 'षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः' अर्थात् जिसमें सोलह, बारह अथवा आठ नायिकाएँ पिंडी, शृंखला, भेद्यक, एवं लता, चार प्रकार से नृत्य करती हैं, उसे रासक कहते हैं। नाट्यरासक में, एक प्रकार का नृत्य होता है। इसमें स्त्रियां योग्य अभिनय एवं नृत्य द्वारा राजा की कृतियों का अनुकरण करती हैं। शारदातनय के भावप्रकाशन में नाट्यरासक के अनेक प्रकार बतलाये गये हैं।

अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की टीका में प्राचीन लेखकों के अभिप्राय से श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ जो नृत्य किया है, उसी प्रकार के नृत्य को रास कहते हैं, यह कहा है। भरताचार्य ने नाट्यशास्त्र के चतुर्थाध्याय में नृत्तका महत्त्व वर्णन करके 'लास्य', तथा 'तांडव', दो प्रकार बतलाये हैं। इसी स्थल में अभिनवगुप्त अपनी टीका में रासक, हल्लीसक आदिका निर्देश करता है। और 'तदुक्तं चिरंतनैः' कहकर प्राचीन लेखकों का अभिप्राय निम्नलिखित आठ श्लोकों में कहता है। 'मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्। एकस्तत्र तु नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥ "अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रतालललयान्वितम्। आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्।' इसके अनन्तर अभिनवगुप्त कहता है कि, 'एते प्रबन्धा नृत्तात्मका न नाट्यात्मकनाटकादिविलक्षणाः।' अर्थात् मण्डलाकार से जो नृत्त होता है, कृष्ण गोपी जनों की तरह जिसमें एक नेता हो, उसको 'हल्लीसक' कहते हैं और जिसमें अनेक चौसठ युगलतक नर्तन किया जाय, अनेक प्रकार के ताल, लय, युक्त नृत्य करती हैं, उसको 'रासक' कहते हैं। रासक मसृण, तथा उद्धत दो प्रकार का है। ये सब नृत्त्यात्मक प्रबन्ध, नाट्यात्मक नाटकादिकों से विलक्षण (भिन्न) नहीं हैं।

भोज भी अपने 'शृंगारप्रकाश' ग्रंथ में पूर्व लक्षणसदृश लक्षण कहता है। 'यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत्प्राहुः। तत्रैको नेता स्याद्गोपस्त्रीणामिव मुरारिः॥' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहता है कि रासक, तथा नाट्यरासक, ये दोनों छोटे नाटक हैं। इनमें अङ्क, संधि, नट, रस, वृत्ति, नायिका तथा नायक, होते हैं जिसमें नृत्य का स्थान गौण है। हल्लीसक में एक अङ्क सात से दशतक नायिका, कैशिकी वृत्ति, दो सन्धि, तथा केलिरैवत सदृश संगीत होता है। शारदातनय भी उक्त प्रकार का अभिप्राय दिखाते हैं।

'नाट्यदर्पण' में प्रथम चार रूपकों का वर्णन किया है। अनन्तर दूसरे तेरह रूपकों का नाम दिया है। इसमें हल्लीसक, रासक, नाट्यरासक, का भी नाम दिया है। हेमचन्द्र काव्यानुशासन में काव्य की चर्चा करते हुए प्रेक्ष्य, तथा श्राव्य, ये दो काव्य के भाग कहते हैं। प्रेक्ष्य के भी पाठ्य तथा गेय दो विभाग कहे हैं। गेय के अनेक प्रकार कहे हैं। जिसमें हल्लीसक तथा रास, की गणना की है। इनके लक्षण अभिनव गुप्त ने जिस प्रकार पूर्व में श्लोक के द्वारा बतलाये हैं, उसी प्रकार हेमचन्द्र भी करते हैं। इस प्रकार रासक तथा हल्लीसक दो प्रकार का नृत्य है। कालानुक्रम से दो प्रकार के नाटक भी हुये। प्राचीन समय में कृष्ण की क्रीड़ा हल्लीसक कही

जाती थी। समयानुसार इन दोनों का भेद न कहकर दोनों में रसप्रधान होने के कारण रासगोष्ठी ही प्रचलित हो गई, और श्रीकृष्ण की लीला को रासलीला ही कहने लग गये।

भरताचार्य नाट्यशास्त्र में हल्लीसक, तथा रास का नाम निर्देश नहीं करते। इसीलिये अभिनव गुप्त ने प्राचीन श्लोकों को लिखकर न्यूनता पूरी की है।

इसवी चौथे शतक में हुये भास कवि के बालचरित्र, नाटक में हल्लीसक का स्पष्ट निरूपण है। इसके अनन्तर हरिवंश में श्री कृष्णक्रीडा का वर्णन दीखता है। इसके बाद तो पहले कह आये स्थल-स्थल में रासलीला का वर्णन किया गया दृष्टिगोचर होता है। आगे रास के दो प्रकार लीलारास तथा लकुटारास, अथवा दांडियारास का प्रदर्शन उत्तरकालीन अपभ्रंश साहित्यों में किया है। रास की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) नृत्य द्वारा ही हो सकती है। इसलिये रसात्मक प्रभु रासलीला में नृत्य करते हैं।

संगीतरत्नाकर नाम के ग्रन्थ में नाट्यशब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने कहा है 'नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम्। चतुर्याभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः। नर्तनं नाट्यमित्युक्तम्।' ७।१७।१८अर्थात् नाट्य शब्दका मुख्य अर्थ रस होता है, गौण अर्थ नर्तन होता है। कारण कि चार प्रकारके अभिनयवाला नर्तन, रस को प्रकट करने वाला होता है। नाट्य शब्द का यौगिक अर्थ भी रस होता है। 'नटितुम् अभिनेतुं योग्यम्' जो अभिनय करनेके योग्य वह नाट्य है। इस व्युत्पत्ति से नाट्यशब्द रस अर्थ में योगरूढ है। इससे स्पष्ट होता है कि, नर्तन द्वारा प्रकट हुआ दृष्टिगोचर रस नाट्यशब्द का मुख्य अर्थ है। नाट्य शब्द का 'नटस्य भावः अथवा नटस्य कर्म' नट का भाव अथवा नट का कर्म, नाट्य, यह दूसरे प्रकार से अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ नर्तन होता है। यद्यपि दोनों अर्थों में यौगिकता सदृश है। परन्तु भाव बिना नर्तन का कार्य योग्य नहीं होता, अतः नर्तन में प्रयोजक भाव ही मुख्य है। अभिनय चार प्रकार का है। आङ्गिक, वाचिक, आहार्य, और सात्त्विक। अङ्गों द्वारा जो अभिनय होता है उसको आङ्गिक कहते हैं, वाणी में रचा हुआ काव्य नाटक आदि वाचिक। हार केयूर कटक आदि आभूषण से आहार्य, तथा सात्त्विक भाव से किया अभिनय सात्त्विक है। इसी कारण से हमारे रसेश प्रभु अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिये नृत्यादि करते हैं तथा अपना स्वरूपात्मकरस, अभिनय आदि से जहाँ स्थापित करते हैं, वहां से कभी विचलित नहीं होते प्रत्युत बीजरूप होकर आगे फलदान करते हैं। परब्रह्म ही जिस समय रसशास्त्र की रीति से हृदय में प्रकट होता है, उस समय इसको रस कहते हैं। इसमें चिदंश गौण है अतः 'कृषिर्भूवाचकः' उक्त रीति से जिस समय भगवान बाहर प्रकट होते हैं उस समय में भी स्वयं रसात्मक ही होते हैं'।

यद्यपि श्रीमद्भागवत मूल में ही राजा परीक्षित के प्रश्न करने पर श्रीशुकजी ने ठीक ढंग से उत्तर दिया है तथापि लोग श्री शुकदेव के द्वारा सुन्दर लोकशास्त्र रीत्यनुसार किये समाधान को न देखकर अद्यावधि भगवल्लीला में अनेक प्रकार की शंकाओं की उनके चित्त में तरङ्गें उठती रहती हैं, और रासलीला के नाम से घबड़ा कर अपने कलुषित हृदय का परिचय कराते हैं। इस विषय में पहले मूल में जो उत्तर है, उसको प्रथम विचारना चाहिये, यहां विस्तार भय से नहीं लिखा है, मूलव्याख्यान के समय उसको लिखेंगे। परब्रह्म लौकिक कामरहित पूर्णकाम, आप्तकाम, निर्दोष है, सूर्वान्तर्यामी है। अतः भगवान तथा भक्तों का स्वरूप पहले कह आये हैं बीच-बीच में शंका समाधान भी किया है। उसको भी बुद्धिपूर्वक समझना चाहिये। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' भक्तों के ऊपर अनुग्रह

करने के लिये भगवान मनुष्य शरीर धारण कर इस प्रकार की लीला करते हैं। श्री शुकदेव जी ने १०-३०-४० इस लीला का फल श्रोता-वक्ता को हृद्रोग काम का निवारण कहा है। भगवान की सब लीला निष्काम है, रास लीला भी निष्काम है। भगवान का प्राकट्य सर्वोद्धार करने के लिये होता है। उसमें जो निःसाधन इस प्रकार के जीव हैं उनका भी उद्धार तत्तद्भावानुसार करते हैं। नहीं तो सर्वोद्धार में न्यूनता रह जाय। गोपीजनों प्रसङ्ग लोगों को भगवान की लीलाओं में लौकिकसदृशता-भ्रमनिवारण के हेतु से तथा अनुग्रहमार्ग प्रकट करने के हेतु से, अति महत्त्व का है। गोपीजनों का शास्त्रीय साधन में अनधिकार होने के कारण, उनके पास भगवत्प्राप्ति का कोई साधन नहीं था। इसलिये निःसाधन गोपीजनों पर अनुग्रह करके वेणुनाद द्वारा उन्हें अपने पास बुलाया। और वे भी संसार के सब पदार्थों का त्याग कर सर्वात्म भाव से भगवान की शरण में आईं। भगवान ने अपना दिव्य अलौकिक स्वरूपानंद-भजनानंद का दान दिया। यह असाधारण कार्य भगवान के बिना दूसरा कोई कर नहीं सकता।

श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनी (१०।२६।४२) में कहते हैं कि रासलीला में रसशास्त्र में कही संपूर्ण क्रियायें हुईं। किन्तु इनमें लौकिक काम नहीं। अर्थात् रासलीला में लौकिक क्रियासदृश क्रिया हुई। किन्तु लौकिक काम नहीं। गोपीजनों का काम भगवान् ने अलौकिक काम द्वारा पूर्ण किया, इसलिये गोपीजन भी भगवान् के सदृश लौकिक कामरहित निष्काम हो गईं। यदि गोपियों में लौकिक काम होता, तो भगवान् के अलौकिक काम द्वारा उसकी पूर्ति सम्भव कैसे हो सकती! स्वयं गोपीजन लौकिक कामरहित थीं, तभी तो लौकिकपत्यादि में उनका राग नहीं था। यदि प्राकृत काम गोपीजनों में होता—और भगवान् के लौकिक काम से इसकी पूर्ति होती, तो जैसे संसार में पुत्रादि होते हैं उसी प्रकार गोपीजनों के भी होते। किन्तु रासलीला में संसारोत्पत्ति नहीं हुई। भगवान् के स्वरूप में काम नहीं होता, इस प्रकार के निष्काम स्वरूप से निष्काम अभिलाषा-अलौकिक काम पूर्ण होता है। इस प्रकार लीला में अलौकिक भाव होने से मर्यादा मार्ग तथा भक्तिमार्ग की मर्यादा भंग नहीं होती। मोक्षरूप फल प्राप्त होता है। इस लीला के श्रवण से साधारण जन भी निष्काम हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव होता है कि अपने में स्थित अन्य वस्तु को भी अपने सदृश बना लेती है। भगवान् लौकिक कामरहित हैं, अलौकिक कामयुक्त हैं। अतः भगवान् की इस प्रकार की लीला को सुनकर तल्लीन होने पर लौकिक कामरहित, अलौकिक कामयुक्त हो जाता है।

श्रीशुकदेवजी (१०।२६।१६में) स्पष्ट कहते हैं कि शिशुपाल भगवान् से द्वेष करता था, तब भी भगवान् की सायुज्य मुक्ति प्राप्त हुई। फिर भगवान् की प्यारी गोपीजन मुक्ति को प्राप्त हों, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है? भगवान् विकाररहित, ज्ञान से अप्राप्य निर्गुण हैं। इनका प्राकट्य सर्व मनुष्यों के कल्याणार्थ है। जो भगवान् में सदैव काम क्रोध भय स्नेह एकता अथवा भक्ति करता है, वह भगवद्रूप हो जाता है। सारांश किसी प्रकार से श्रीकृष्ण में मन एकाग्र करने से भगवत्प्राप्ति होती है।

भगवान् स्वयं (भा० १०।१९।२६ में) कहते हैं कि 'भर्जिताः क्वथिता धानाः' जिस प्रकार भुजे अथवा उबाले हुये धान बीजयोग्य नहीं रहते, उसी प्रकार जिन्होंने मेरे में बुद्धि लगा दी है, उनका कामजन्य काम को उत्पन्न नहीं कर सकता, अर्थात् उक्त प्रकार के धान से जैसे दूसरे धान्य उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार संसारोत्पत्ति नहीं हो सकती, उसका तो नाश ही हो जाती है। वेदस्तुति में (१०।८४।२३) सुबोधिनी में स्पष्ट कहा है कि, जीवों को भगवान् का भजन किसी

भी प्रकार से अवश्य करना चाहिये। योग द्वारा चिन्तवन करने वाले मुनि जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसी स्वरूप को भगवान् के शत्रु शत्रुभाव से प्राप्त करते हैं।

भगवान् के शेषनाग शरीर सदृश विशाल भुजाओं में आसक्त हुईं अतिबहिर्मुख गोपियां तथा अन्तर्मुख सर्व की आदरणीय श्रुतियां भगवान् को प्राप्त हुईं। अतः स्त्री तथा पुरुष भगवान् के दोनों बराबरी के हैं। भगवान् सब को तुल्य दृष्टि से अपना मानते हैं। क्योंकि किसी न किसी प्रकार से सभी भगवच्चरण का ध्यान करते हैं, इसीसे उक्त श्लोक का सारांश श्री महाप्रभुजी लिखते हैं कि, 'सर्व एव हरेर्भक्तास्तुल्या यान् मन्यते हरिः। अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजनं तथा॥' जिनको भगवान् मानते हैं, वे सब ही हरि के भक्त तुल्य हैं, अतः जिस प्रकार कृष्ण आत्मीय माने, उसी प्रकार आत्मीयों को भजन कर्त्तव्य है। उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भगवान् से किसी प्रकार सम्बन्ध जोड़ने से अन्त में भगवत्प्राप्ति होती है।

गोपीजनों की तरह तो अत्यन्त भगवान का कृपाबल हो, तब सर्व विषय त्यागकर सर्वात्मभाव से भगवच्चरण आने पर दिव्य अलौकिक भजनानन्द-स्वरूपानन्द का अनुभव भाग्यशाली को प्राप्त होता है। जिन गोपियों की भगवान में जार बुद्धि थी, उनकी भगवान में सायुज्य हुई। सर्वात्मभाव वाली गोपियों की तरह परमानंद की प्राप्ति नहीं हुई। अर्थात् उनको रासलीला का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिये इनकी अपेक्षा सर्वात्मभाव वाली गोपियों की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। सर्वात्मभाव बिना रासलीला में अधिकार नहीं होता। अतः रासलीला सर्वथा दोषरहित है।

दर्शनशास्त्र में रास के महत्त्व का विचार किया जाय तो तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानंद वल्ली में परमात्मा के सुंदर स्वरूप का वर्णन किया है। इसके महत्व का वर्णन जितना श्रीवल्लभाचार्य ने किया है, उतना अन्य आचार्यों ने नहीं किया। परब्रह्म के रसात्मक स्वरूप का सिद्धांत शुद्धाद्वैत वेदान्त में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः तत्त्वज्ञान की दृष्टि से श्री वल्लभचार्य का स्थान सर्वोपरि अनुपम है। अन्य भी कठ मुण्डक छान्दोग्य बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप का समन्वय श्रीवल्लभाचार्य ने भली भांति से किया है। इसमें से ही रसात्मक आनन्दमय ब्रह्म के रास की भावना प्रादुर्भूत हुई। रास में रस मुख्य है, और ब्रह्म का स्वरूप रसात्मक है। यद्यपि रास शब्द उपनिषद में स्पष्ट नहीं कहा, तथापि इसकी भावना तो स्पष्ट मालूम होती है। श्रीमद्भागवत में तो प्रकट ही लीला का वर्णन है। अतः इसी भावना पर श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का मुख्य सिद्धांत अवलम्बित है। आपने कहा भी है, 'कोण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्' अर्थात् गोपीजन मार्गगुरु हैं, इन्होंने जो साधन किया है, वही पुष्टिमार्गीय साधन है। गोपीजन अन्यपूर्वा—श्रुतिरूपा, निर्गुण तथा सात्त्विकादि भेद से दश प्रकार के हैं और अनन्यपूर्वा—ऋषिरूपा, कुमारिका गोपीजन, निर्गुण तथा सात्त्विकादि भेद से नव प्रकार की हैं, क्योंकि अनन्यपूर्वा गोपीजनों में तामस तामसी यूथ नहीं हैं। अतः नव प्रकार के हैं। शृङ्गार रसरूप भगवान् के अत्यन्त गूढ रसात्मक काम है। इससे ही कामशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

श्री महाप्रभुजी के अभिप्राय से कामशास्त्र, एवं नाट्यशास्त्र केवल भगवान् के लिये ही है, अन्य संसारी के लिये नहीं है। यद्यपि गूढ काम द्वारा उत्पन्न काम का तीनों लोकों में देवता आदि अनुभव करते हैं, तथापि इनका काम रसात्मक नहीं है' क्योंकि कुछ थोड़े अंश में अल्प सुख का (आनन्द का) अनुभव होता है। 'एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' नाल्पे सुखं भवति

आनंद की अल्पमात्रा से समस्त प्राणी जीते हैं। अल्प में सुख नहीं होता है। यह उपनिषद में कहा है। भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह तीनों लोकों में नहीं होता, इसलिये इसका वर्णन नही हो सकता, अतः इसको गुप्त कहते हैं। रसरूप भगवान् जिस रस का अनुभव करते हैं, वह स्वरूपात्मक, स्वरूप से भिन्न नहीं है। इस गूढ रसात्मक काम का ज्ञान होने के लिये वात्स्यायन ऋषि ने कामशास्त्र बनाया तथा भरतमुनि ने नाटचशास्त्र रचा है 'न हि ऋषीणां तात्पर्यं लौकिके भवितुमर्हति' ऋषियों का तात्पर्य लौकिक में नहीं होता। भगवान् ने अपने गूढ अलौकिक रसात्मक काम को प्रकट करने के लिये नृत्य किया, और गोपीजन से कराया। सब अङ्गों में गुप्त रहने वाला अलौकिक रसात्मक काम प्रकट हो जावे, इसके लिये कामशास्त्रानुसार समग्र बन्धों का उपयोग किया।

काम नाम का उत्तम उत्कृष्ट सुख भगवान् कृष्ण ही भोगते हैं, अन्य कोई नहीं। इस लोक में आधिदैविक रूप प्रकट हुआ है। यह आधिदैविक रूप कामरहित लौकिक वासनात्मक लिङ्ग शरीर रहित हैं। कामसुख उत्तम है, क्योंकि यह क्षर तथा अक्षर से उत्तम है, अर्थात् पुरुषोत्तम का स्वरूप ही है, अतः उत्तम है। क्योंकि यह मोक्षसुख से भी उत्तम है। काम भगवान् का स्वरूप ही होने से इसको भगवान् के बिना अन्य कोई भोग सकता नहीं है। भगवान् ने व्रजभूमि में रासलीला जीवों का आधिदैविक स्वरूप प्रकट करके की है। बिना आधिदैविक स्वरूप के भगवान् का भजन हो नहीं सकता। यद्यपि साक्षात् भगवान् का भजन वैकुण्ठव्यापी होता है, तथापि कृपा करके इस लोक में भी जीव आधिदैविक रूप प्राप्त कर भगवान् का भजन कर सके, इसके लिये यह लीला की है। इतना ही नहीं, कोई भी मनुष्य इस लीला का श्रवण करेगा तो आधिदैविक रूप प्राप्त कर भगवान के साक्षात् भजन के योग्य हो सकता है तैत्तिरीय उपनिषद् २।७ में कहा है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत' यह पहिले असत् तथा अनन्तर इससे सत् हुआ 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' भगवान् ने स्वयं अपनी आत्मा का सर्जन किया है, अतः यह सृष्टि ब्रह्म का स्वरूप है।

श्री महाप्रभु जी पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ में 'पुष्टि कायेन निश्चयः' पुष्टि सृष्टि कायिक है। अतः अन्य सृष्टि सदृश नहीं है। यदि इस सृष्टि में मनोविकार, तथा लौकिक रस होता तो रसरूप भगवान को स्वयं अपनी आत्मरूपसृष्टि को करना यहां लाना, तथा रस आनन्द रूप है, यह श्रुति का कहना, व्यर्थ ही हो जाता है। अतः भगवान रसस्वरूप, तथा रस को प्रकट करने वाली सर्व सामग्री भगवान से अभिन्न होने के कारण रसरूप ही है।

ब्रह्मसूत्र 'अनुकृत्यधिकरण' (१-३-२२-२३) में सर्वपदार्थ भगवान का अनुकरण करते हैं, यह सिद्ध किया है। यदि कामशास्त्र, तथा नाटचशास्त्र को लौकिक रस की प्रतिपादकता स्वीकार करते हैं, तब भी लौकिक रस का स्वरूप मूल भगवान के रस को अनुसरण करके ही सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं।

पद्मपुराण पाताल खण्ड रामाश्वमेध-प्रसङ्ग में शेष तथा वात्स्यायन का संवाद हुआ है। इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनमुनि वैष्णव थे, इसी तरह भरतमुनि भी वैष्णव थे। हनूमान जी ने भी नाटक लिखा है। ये श्री रामभक्त थे अतः इन महापुरुषों ने ग्रन्थरचकर इतना भी

परिश्रम किया है—वह त्रिवर्ग साधक नहीं, किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षसाधक ही हो सकता है। वात्स्यायन मुनि कामशास्त्र (२।२।३) में कहते हैं कि दशमण्डल वाले ऋग्वेद को चतुष्षष्टि कहते हैं। इस कामशास्त्र में ऋग्वेद के अर्थ का संबंध होने से, तथा पंचाल बाभ्रव्य आदि महर्षियों द्वारा कामशास्त्र की चर्चा करने से, ऋग्वेदियों ने चतुष्षष्टि नाम की संज्ञा कामशास्त्र की आदि दिखाने के लिये दी है। इस प्रकार सूत्र रच कर वात्स्यायन मुनि कहते हैं कि आलिङ्गन चुंबन आदि दश प्रकार ऋग्वेद के ही आधार से लिखे गये हैं। 'सर्वे वेदा यत्पादमामनन्ति' वेद सब भगवान का वर्णन करता है। कामशास्त्र में भी वेद का ही अर्थ है। अर्थात् कामशास्त्र वेद की तरह लीला-सहित भगवान का परोक्ष में प्रतिपादन करता है। यह स्पष्ट है कि नाटचशास्त्र में नृत्य तथा सङ्गीत का उपयोग होता है। सङ्गीत आदि गांधर्व विद्या सामवेद का उपवेद है। इसलिये नटचशास्त्र भी भगवान का वर्णन करता है—सिद्ध हुआ।

अब स्थूल दृष्टि—लौकिक से विचार किया जाय, तब भी व्रज में भगवान ने जितनी लीलाएँ कीं वे सब लगभग ग्यारह वर्ष बावन दिन तक की वय में हैं। क्या इतनी छोटी अवस्था में असंख्यात गोपिकाओं के साथ रासलीला करना संभव हो सकता है? लोकरीति से तो सर्वथा इतनी छोटी अवस्था में कामभावोत्पन्न होना भी असंभव होता है। भगवान के विरुद्ध धर्माश्रय अलौकिक मान कर के ही बन सकता है तो फिर कामलीला में संदेह ही किस बात का, बताइये। इस प्रकार शब्द प्रमाण तथा युक्ति द्वारा श्री महाप्रभु जी भगवान के रस स्वरूप का विचार करके, भगवान से गोपीजनों के साथ की गई जो रासलीला, उसमें लौकिक काम की गंध नहीं है—भगवान का चरित्र सर्वथा निष्काम तथा निर्दोष है, इसके श्रवण कीर्तन से प्राणी निष्पाप होकर परमपुरुषार्थ प्राप्त करता है, यह निर्णय किया है।

गोपियों का स्वरूप पहले कह चुके हैं। इनके चार विभाग हैं—१. सात्त्विक २. राजस ३. तामस ४, निर्गुण, गुणों के परस्पर मिश्रण से अनेक यूथ हैं। दूसरे प्रकार से विभाग १ अन्यपूर्वा अथवा श्रुतिरूपा, २. अनन्यपूर्वा अथवा कुमारिका अथवा ऋषिरूपा, विभाग दृष्टि से रासलीला का विचार किया जाय तो अपने लिये इसका रहस्य अच्छी प्रकार से समझ में आ जाता है। गोपी जनों का सगुण निर्गुण विभाग अपूर्व है। कृष्णोपनिषद में भी विभाग कहा है। सामरहस्य उपनिषद में गोपीजनों के तीन विभाग कहे हैं १ वेदऋचा २ अग्निकुमार ३ संसिद्ध, जो श्रीराधिकाजी के संग प्रकट होता है। भागवत के प्राचीन टीकाकार श्रीधरस्वामी रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हैं कि 'ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपति-र्गोपी रासमण्डलमण्डनः' अर्थात् 'लक्ष्मीपति गोपीजनों के रासमंडल का भूषण, ब्रह्मादि को जीत-कर बढ़ा है दर्प जिसको, अर्थात् मत्त हुये कामदेव के मद का नाश करने वाला, भगवान श्रीकृष्ण जय को प्राप्त होता है।' उक्त मङ्गलाचरण में श्रीधरस्वामी स्पष्ट कहते हैं कि भगवान कामदेव के वश नहीं हुए। उसका पराजय करने को तथा मद दूर करने को भगवान ने रासक्रीडा की। लीला में शृंगार रस की कथा का तात्पर्य विशेष करके निवृत्ति में ही है। काम विजयरूप रास-क्रीडा के श्रवण का फल कामविजय है। शृंगार रस में आसक्त हुए अतिबहिर्मुख मनुष्यों को भग-वन्मय करने के लिये भगवान ने शृंगार रस की लीला की है। अन्य कितने ही टीकाकार श्रीधर-स्वामी का अभिप्राय स्वीकार करते हैं।

बोपदेव का आशय पहले कह चुके है। सनातन गोस्वामी भगवान के अवतार का मुख्य प्रयोजन व्रजसुन्दरियों का मनोरथ पूर्ण करके प्रेमरस विस्तार करना कहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य की दृष्टिबिन्दु पहले कह आये हैं। विजयध्वज, निर्दोष भक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन शास्त्रसिद्ध मानते हैं, इसी सिद्धान्त को समर्थन करने के लिये रासपंचध्यायी की कथा कहते हैं।

विश्वनाथचक्रवर्ती कहते हैं कि भगवान ने आठवें वर्ष में रासक्रीडा की है, और रास से गोपी जनों को इतना अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ कि सर्व शिरोमणि लक्ष्मी जी से भी क्रीडा हो गई।

धनपतिसूर कहते हैं कि भगवान ने नवम वर्ष में रासकीडा की है, और असंख्य गोपी-जनरूप सेना वाले कामदेव के साथ युद्ध में विजय प्राप्त की। यह रास का वर्णन सर्व भागवत का सार है। और परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेव जी परम प्रेम से रस का वर्णन किया है। इसलिये परमहंसों को इसका आदरपूर्वक श्रवण करना चाहिये।

श्रीमद्भागवत भक्ति रसप्रधान है, इसके प्रसंग में शृंगाररस का अनुवाद करके शुकदेवजी ने निवृत्तिमार्ग अपना सिद्धान्त गूढ रीति से कहा है। इस प्रकार अनेक टीकाकार रासलीला को अति पवित्र मनुष्यों को पावन करने वाली मानते हैं।

राजापरीक्षित के प्रश्न करने पर शुकदेव जी ने स्वयं मूल में वास्तविकता स्वीकार कर लोकदृष्टि से तथा तत्त्वज्ञान दृष्टि से समाधान किया है। उसे ध्यानपूर्वक देखेंगे तो भगवत्कृपा से रासलीला की पवित्रता स्वतः ही स्फुरित हो जायगी।

अभीतक रासलीला के वास्तविक स्वरूप का विचार किया, अब रूपक की दृष्टि से विचार करने पर श्रीमहाप्रभु जी ने भी तत्तत्प्रसङ्ग में इसका वर्णन किया है। उदाहरण जैसे भगवान् ने पूतना-वध किया, पूतना अविद्या है अतः पूतना मारकर गोकुलस्थ भक्तों की अविद्या दूर की है। इस प्रकार सर्वलीलाओं में सुबोधिनी में कहा है। श्रुतिस्मृति दोनों शब्द प्रमाण के अङ्ग भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं। श्रुतिरूपा तथा ऋषिरूपा व्रजभक्त भगवान् की कृपा से भजनानन्द का अनुभव करते हैं। इसका रूपकदृष्टि से विचार किया जाय तो श्रुतियां तथा इनका अनुसरण करने वाली स्मृतियां भगवान् का वर्णन करके कृतकृत्य होती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' श्रुतिस्मृति का प्रतिपाद्य विषय भगवान् है, ब्रह्मसूत्रकार श्रुति स्मृति का समन्वय करते हैं, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करने वाले आचार्य इसी बात का समर्थन करते हैं। श्रुतियां, अनन्यपूर्वा तथा अन्यपूर्वा कही जाती हैं। जो श्रुतियां साक्षात् परब्रह्म का वर्णन करती हैं वे अनन्यपूर्वा हैं और जो श्रुतियां आपाततः अन्य देवताओं का तथा साधनों का वर्णन करके अन्त में पूर्ण ब्रह्म का निरूपण करती हैं, वे अन्यपूर्वा, हैं।

पतञ्जलि महर्षि योगसूत्र में कहते हैं कि 'तस्य वाचकः प्रणवः' समस्त वाङ्मय प्रणव-कार्य है 'और सब शब्दप्रमाण परब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि, सब शब्दों का मुख्य अर्थ भगवान् है। अतः सर्व श्रुति स्मृति सदैव भगवान् का वर्णन करती रहती हैं। भगवान् तथा श्रुति स्मृति में परस्पर वाच्यवाचक नित्य संबंध है। ठीक भगवान् की रास-लीला का यही तात्पर्य है। गोपीजन श्रुति, स्मृति, हैं। ये सर्वदा भगवान का बोध करती रहती हैं। अतः इनके साथ रासलीला नित्य होती है। कृष्णोपनिषद सामरहस्योपनिषद आदि में गोपियों को ऋचायें कहा है। कोई कोई विचारशील कहते हैं, कि जीवात्मा तथा परमात्मा का संबंध दिखाने के लिए भागवत में रासलीला का वर्णन है।

जीव भगवान् को किस प्रकार किस भाव से प्राप्त कर सकता है, मोक्षसुख किस प्रकार से भोग सकता है, इसका ज्ञान कराने के लिये भगवान्के गोपीजन तथा रासलीला की कल्पना की गई है। रासलीला ब्रह्मानुभव का रहस्य बोधन करती है। गोपियां अन्तःकरण की वृत्तियां हैं, गोप-वृत्तियों के अभिमानी जीव हैं। अन्तःकरण की वृत्तियां असंख्य होने के कारण गोपियों की सोलह हजार इतनी बड़ी संख्या दी गई है। अन्तःकरण की वृत्तियां बहिर्मुख न होकर जब अन्तर्मुख होती हैं, तब जीव नित्य मोक्षसुख भोग करता है। इस प्रकार रासलीला का तात्पर्य अध्यात्मरूप प्रक्रिया में कहा है। कोई कोई गोपियों को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। शक्तियां शक्तिमान के साथ नित्य संयुक्त रहती हैं, उसी प्रकार गोपीरूप भगवान् की शक्तियां भगवान् के साथ सदैव संयुक्त रहती हैं। इसी अनुभव का समर्थन रासलीला में किया गया है। अन्य विचार करने वाले कहते हैं कि, जीवात्मा परमात्मा का अनुभव अनेक प्रकार से कर सकता है। जिस प्रकार रासलीला में जीवात्मा परमात्मा के साथ अति गाढ प्रेमद्वारा भगवान् का आनन्द प्राप्त करता है। अर्थात् परमात्मा को अपना सुन्दर प्रेमपात्र बनाकर उसका आनन्द भोगता है। उसी प्रकार रासलीला के प्रकरण में जीव अपने को स्त्री मानकर भगवान् को पति मानता है, और तदनुसार भगवान् का अलौकिक आनन्द भोगता है।

परमात्मा के मिलने के लिये अनेक मार्ग हैं। उनमें से एक मार्ग रासलीला भी है। परमात्मा में जो निःसीम प्रेम करने वाली है, उसे राधा कहते है। कितने अर्वाचीन विचारक कहते हैं कि श्रीमद्भागवत का कृष्ण वैदिक विष्णु देवता का विकसित स्वरूप है। ऋग्वेद में विष्णु देवता का जो वर्णन है, वह सब कृष्ण में दीखता है। अर्थात् स्वरूप तथा भावना की दृष्टि से स्पष्ट है कि वैदिक विष्णु कृष्ण की मूलपीठिका है। कृष्ण विष्णु सूर्य का पूर्णावतार है। कृष्ण का नील वपु है, नीलाकाश ही सूर्य का शरीर है। कृष्ण चतुर्भुज है, चारो दिशा सूर्य की चारो बाहु हैं। कृष्ण का पीताम्बर वस्त्र है, सूर्य की सुवर्णसदृश किरणें वस्त्रतुल्य है। ऋग्वेद में विष्णु तथा इन्द्र दोनों मित्र हैं, 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' (ऋ० २२।९) ये दोनों यथासमय कृष्ण तथा अर्जुन रूप से प्रकट होते हैं। महाभारत में लिखा है कि, अर्जुन इन्द्र का पुत्र है। उपनिषदों में विष्णु तथा इन्द्र परमात्मा, जीवात्मा कहे गये हैं। मुण्डक ३।११ श्वेताश्वतर ४।६ ऋग्वेद(१।१६४।२०) आगे विष्णु तथा इन्द्र नारायण तथा नर कहे गये हैं। नर जीवात्मा, नारायण, जीवात्मा का अन्तिम स्थान है। भारतवर्ष के कल्याणार्थ नर-नारायण दोनों हिमाचल में तपश्चर्या कर रहे हैं।

महाभारत में कृष्ण तथा अर्जुन दोनों मित्र हैं, युद्ध में कृष्ण अर्जुन के सारथी हैं, कृष्ण युद्ध में भाग लेते नहीं हैं। क्योंकि परमात्मा असंग है, इस स्वभाव को दिखा रहे हैं। कठोपनिषद (३।३।४) आत्मा रथ में बैठा है, अर्थात् जीव अर्जुन, कृष्ण परमात्मा जीवात्मा को दौड़ा रहा है। आगे कृष्ण को गोपाल रूप में बतलाया है। यह भावना भी ऋग्वेद में कही गयी है। विष्णु का उद्देश्य करके ऋग्वेद कहता है कि 'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्' (१।२२।१८) सूर्य का दूसरा स्वरूप आदित्य है, उसको 'गोपाः' कहते हैं। वेद में सूर्य को पूषा भी कहते हैं। यह खोये हुये पशुओं को ढूंढ़ कर लाता है। अतः गोपाल का कार्य करता है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'(ऋ० १।११५।१) सूर्य अखिल चराचर विश्व का आत्मा है। इसीसे विश्व का मध्यबिन्दु बनता है। विश्व इसके चारो तरफ फिरता है इसी भावना से श्रीकृष्ण की रासलीला के स्वरूप का बोध किया है।

रासलीला मनुष्य तथा विश्व का परमात्मा के साथ संबंध बताती है। इससे उत्तम संबंध बतलाने वाला अन्य प्रकार नहीं है।इस प्रकार रासलीला की भावना भव्य तथा सुंदर है, वैदिक विष्णु-कृष्ण, सूर्य है, गोपियां सूर्य की किरण हैं, सूर्य की किरण सूर्य में ही रहती हैं। सूर्य से बाहर निकलती हैं, और अनन्तर सूर्य में ही प्रवेश करतीं हैं। सूर्य गोल है, नित्य पर्यटन करता है, ये सब बातें रासलीला में आती हैं। तत्त्व जानने वाले रासलीला का अनेक प्रकार से विचार कर सकते हैं। अन्य प्रकार भी हो सकते हैं। रासलीला वास्तविक रूप से तथा अध्यात्म रूप से, जिस प्रकार से रुचे उसी प्रकार जानने पर सर्वथा पवित्र निर्दोष है, जगत् को पवित्र कर मोक्ष-देने वाली है। किन्तु इसका स्वरूप जानने को कुछ योग्यता, भगवत्कृपा होनी चाहिये। तभी इसकी दिव्यता का अनुभव हो सकता है। कितने ही कृपा पात्र इसके श्रवण कीर्तन स्मरण द्वारा परम फल को प्राप्त हो चुके हैं। वह सर्वत्र स्थल स्थल में निरूपण किया गया है। भविष्य में भी व्रजभक्तों की भावना में भावित भक्तजन निर्दोष इस दिव्य आनन्द का भोग प्राप्त करेंगे, बस इतना ही मेरा निवेदन है।

भवदीय—

दशभुजी गणेश, सरवनपुरा
मथुरा, वि० सं० २०२८

पं० जगन्नाथ (मुनमुनजी) चतुर्वेदी

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

महाप्रभुश्रीश्रीवल्लभाचार्यविरचिता

रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनी

(श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-रासपञ्चाध्यायी व्याख्या)

अथ प्रथमोऽध्यायः

(श्रीमद्भा० स्क० १०, अ० २६)

हिन्दोव्याख्याकर्तृमङ्गलाचरणम्—

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यां-स्तत्पुत्रांश्च तदीयकान् ।
तत्कृपाबलमासाद्य जगन्नाथेन शर्मणा ॥ १ ॥
पञ्चाध्यायफलो भाषानुवादः क्रियते मया ।
तेन सर्वे स्वकीया हि विमृशन्तु सदा धिया ॥ २ ॥

पच्चीसवें अध्याय में समस्त गोकुल में रहने वाले भक्तों को भगवान ने सत्यज्ञान रूप अनन्त ज्योति सनातन ब्रह्म जिसमें रहता है, तम प्रकृति परे जिसको गुणों से निवृत्त होकर सावधान मननशील पुरुष देखते हैं, उस व्यापिवैकुण्ठलोक का दर्शन कराया ।

यह व्यापिवैकुण्ठ अक्षर ब्रह्मरूप है, जब भगवान गोकुलवासियों के हृदय में प्रकट हुए तब अक्षर भी लोकरूप से गोकुलवासियों के हृदय में प्रकट हुआ, नहीं तो लोक को कृत्रिमता हो जाती । अतः यह लोक अबाधित ज्ञानरूप और अपरिच्छिन्न है, अर्थात् किसी से आवृत नहीं है । व्यापिवैकुण्ठ को बृहत्त्व, बृंहणत्व तथा प्रामाणिकत्व सर्ववेदान्तसिद्ध है ।

'गुणोपसंहार' न्याय उत्तरमीमांसा साधनाध्याय के अनुसार व्यापिवैकुण्ठ में अप्राकृत सर्व गुण रहते हैं और अविकृत-विकाररहित एकरस स्वभाव से निर्गुण है । गुण स्वरूपात्मक हैं और इस लोक में सर्वभवन सामर्थ्य है ।

जिस समय इस धाम का दर्शन गोकुल में रहने वालों को हुआ, उस समय यह धाम सर्वत्र प्रकट हो गया और भगवान ने गोकुलस्थों को शब्दरूपी ह्रद में प्रविष्ट किया और उस ह्रद में वे सब मग्न–डूब गये । सर्वगोकुल का लय होने पर आगे की लीला नहीं हो सकती थी, इसलिये पुनः भगवान ने गोकुलवासियों के इस लोक में आने का प्रयत्न किया, इस बात को कहते हैं—

'ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः' (सु० कारिका : १०।२५।१६) गोकुल का तिरोभाव होने पर भी काष्ठ में अग्नि की तरह तदात्मक अंश लोक का तिरोभाव नहीं हुआ था, अर्थात् जिस प्रकार आधे जले हुए काष्ठ पर जल गिराने से पुनः काष्ठता हो जाती है, उसी प्रकार गोकुल का वेदात्मक ब्रह्म में संयोजन करके पुनः भगवान ने इस लोक की प्राप्ति कराई ।

शब्दब्रह्म जलरूप है, इसलिये अक्षररूप गोकुलवासियों को ब्रह्महृद में प्राप्तकर स्नान कराया, उस समय गोकुलवासियों में स्थित वैकुण्ठलोक तिरोहित हो गया और ब्रह्महृद में सर्वगोकुल मग्न हो गया।

भगवान ने सर्वगोकुल को ब्रह्महृद में मग्न करके शब्दात्मक उत्तम अधिकारी बनाया, कारण कि पुष्टिमार्ग में प्रवेश कराने का क्रम इस प्रकार है। प्रथम परब्रह्म और उससे शब्दब्रह्म का उत्थान हुआ, फिर शब्दब्रह्म से जगत् हुआ, अर्थात् शब्दब्रह्म से पराक्षर ब्रह्म को परब्रह्म शब्द से कहा है, इसलिये 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' इस न्याय के अनुसार प्रथम गोकुल को ब्रह्म-भाव से अथवा वैकुण्ठ से पृथक् करके, 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्महृद में मग्न हुए गोकुलवासियों का फिर प्राकृत देह आदि से सम्बन्ध होना मर्यादामार्गीय श्रुतियों से विरुद्ध होता है, इसलिए भगवान ने ब्रह्महृद से भी पृथक् करके गोकुलस्थ भक्तों को पुष्टिलीलात्मक जगत्व सम्पादन किया।

वेद तो मर्यादा का निरूपण करते हैं। जो ब्रह्मानन्द में निमग्न हुए हैं, उनको वहां से पृथक् करना वेदों को सम्मत नहीं है, इसलिये श्रीकृष्ण के आज्ञारूप पुष्टिश्रुतियों की सम्मति से गोकुलवासियों का पुष्टिलीला में स्वीकार है, मर्यादा मार्ग में नहीं है, इसलिये श्रुतियों ने भी गोकुलवासियों को अपने से पृथक् कर दिया।

यदि मर्यादामार्ग-प्रमाण में ही गोकुलवासी भक्त रहे आते तो फिर पुष्टिलीला में प्रवेश नहीं होता और प्रथम में किया सर्व व्यर्थ हो जाता इसलिये भगवान ने शब्दब्रह्म का लोक दिखाकर, जिस प्रकार अक्रूरजी ने वहां जाकर भगवान के स्वरूप को जाना था, उसी प्रकार व्रजवासी भक्तों को प्रमाण से अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये प्रथम ब्रह्मानन्द में मग्न किया और फिर वहां से निकाल लिया।

ब्रह्मानन्दान्महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः। तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्श्योद्धृतवांस्ततः॥

अर्थात् ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में महान् आनन्द की प्राप्ति होती है, इसी तारतम्य के बतलाने के लिए भगवान ने वैकुण्ठलोक का दर्शन कराया और फिर वहां से निकाल लिया।

इस प्रकार संक्षिप्त प्रसङ्ग पच्चीसवें अध्याय का सङ्गति का ज्ञान कराने के लिये कहा है।

अब फलप्रकरण का प्रारम्भ करते हुए महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य जी नीचे लिखी कारिकाओं में से प्रथम चरण को कहकर शेष ७ कारिकाओं से तामस फलप्रकरण का तात्पर्यार्थ, और २ कारिकाओं में छब्बीसवें अध्याय का तात्पर्य कहते हैं।

(सुबो०) ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते॥ १॥
लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्द्वारा पुरुषे भवेत्।
स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता॥ २॥
ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते।
तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा॥ ३॥
स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान्।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्॥ ४॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरस्तु (परं) महाफलम्।

ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते॥ ५॥
ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम्।
आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा॥ ६॥
वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यादिन्द्रियैस्तु ततः परा।
शारीरी पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम्॥ ७॥
षड्विशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत् स्वयम्।
ते चेत् समर्पितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते॥ ८॥
आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत् तावद् वै रमते हरिः।
सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः॥ ९॥

पदपदार्थ—(ब्रह्मानन्दात्) भजनानन्द और ब्रह्मानन्द में तारतम्य-रसविशेष मिलने का ज्ञान कराने के लिये व्रजभक्तों को प्रथम जिसका अनुभव कराया, उस ब्रह्म के आनन्द से, अधिक दान भजनानन्द देने की इच्छा से (समुद्धृत्य) समस्त गोकुलवासी भक्तों को सम्यक् प्रकार से निकालकर (भजनानन्दयोजने) अपना स्वरूपात्मक भजनानन्द का भक्तों के लिये दान देने में (या) जो (लीला) रासादिरूप क्रीडा (युज्यते) योग्य होती है (सा) वह लीला (तुर्ये) चतुर्थ तामस फलप्रकरण में (विनिरूप्यते) विशेषता से निरूपण की जाती है॥ १॥

(लौकिकस्त्रीषु) भजनानन्द लौकिक स्त्रियों में (संसिद्धः) सम्यक् प्रकार से सिद्ध है (तद्द्वारा) स्त्रियों के द्वारा (पुरुषे) पुरुष में (भवेत्) हो (हि) जिससे (स्वानन्दानुभवार्थं) अपने आनन्द के अनुभव के लिये (योग्यतापि) योग्यता भी (निरूपिता) निरूपण की है।

(ततः) इस कारण से (हि) निश्चय (स्त्रीषु) स्त्रियों में (भजनानन्दः) भजनानन्द (सम्यक्) अच्छी तरह (विधार्यते) विशेषता से धारण किया जाता है (तद्द्वारा) स्त्रियों के द्वारा (पुरुषाणां च) पुरुषों को भी (भविष्यति) प्राप्त होगा (अन्यथा) और प्रकार से (न च) नहीं होगा॥ ३॥

(हि०) जिससे (स्त्रियः) स्त्रियाँ (एव) ही (तं) उस भजनानन्द को (पातुं) पान करने के लिए (शक्ताः) शक्त हैं (ततः) अनन्तर (तासु) स्त्रियों में (पुमान्) पुरुष पान करने के लिए शक्त हैं। (अतः) इसीलिये (हि) निश्चय (भगवान) षडैश्वर्यवान् (कृष्णः) कृष्ण (स्त्रीषु) स्त्रियों में (हि) इसी कारण से (अहर्निशम्) दिनरात्रि (रेमे) रमण करते हुए॥ ४॥

(बाह्याभ्यन्तरभेदेन) भगवान ने बाहर और भीतर भेद से रमण किया है (आन्तरस्तु) भीतर रमण तो (महाफलम्) पर-अथवा महाफल है (ततः) अनन्तर (शब्दात्मिका) शब्द-रूप (लीला) क्रीडा (सा) वह (निर्दुष्टा) दोषरहित (निरूप्यते) निरूपण की जाती है॥५॥

(ततः) अनन्तर (रूपप्रपञ्चस्य) रूप प्रपञ्च का (पञ्चधा) पांच प्रकार से (रमणं) रमण (मतम्) माना है। (आत्मना) आत्मा से (प्रथमा) प्रथम (लीला) रमण है (ततस्तु) इसके अनन्तर तो (परा) द्वितीय लीला (मनसा) मन द्वारा है (तृतीया तु) तीसरी लीला तो (वाक्प्राणैः) वाणी और प्राणों से है (ततः) अनन्तर (परा तु) चौथी तो (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के द्वारा (स्यात्) हो (पञ्चमी) पांचवीं लीला (शारीरी)

शरीर से (वाच्या) कही है (ततः) अनन्तर (रूपं) रूप (प्रतिष्ठितम्) प्रतिष्ठित हो गया ॥ ७ ॥

(षड्विंशे तु) छब्बीसवें अध्याय में तो (हरिः) भगवान (पूर्वं) पहिले (स्वयं) आप (जीवान्) जीवों को (आनन्दयत्) आनन्द कराते हुए (ते) वे जीव (चेत्) जो (समर्पितात्मानः) आत्मसमर्पण करने वाले हों तो (तत्र) उसमें (उपायश्च) उपाय (रूप्यते) निरूपण किया जाता है ॥ ८ ॥

(यावत्) जब तक (आत्मा) जीव (प्रपन्नः) भगवच्छरण प्राप्त (अभूत्) होता है (तावत्) तब तक (वै) निश्चय (हरिः) भगवान (रमते) रमण करता है (सः) वह हरि (अन्तःकरणसम्बन्धी) अन्तःकरण का सम्बन्धी है (च) और (सः) वह अन्तःकरण सम्बन्धी (हरिः) भगवान (तिरोधत्ते) तिरोधान को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मानन्द से बाहर निकाल कर भजनानन्द में युक्त करने के लिये जो लीला उपयुक्त है वह चतुर्थ तामस फलप्रकरण में विशेषता से निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

प्रभुचरण श्री विट्ठल नाथ जी कहते हैं कि यदि कोई शंका करे कि भगवान सर्वसमर्थ हैं इसलिये ब्रह्मानन्द की तरह घर में रहती हुई स्वामिनियों को भगवान ने भजनानन्द का दान क्यों नहीं दिया ? स्वामिनियों का लोक-वेद त्याग कराकर आगे कही रीति के अनुसार भजनानन्द क्यों दिया ? इस शंका का समाधान कहते हैं—

यदि भगवान ब्रह्मानन्द की तरह घर में ही स्थित स्वामिनियों को भजनानन्द दे देते, तो भजनानन्द भी ब्रह्मानन्द के मध्यपाती हो जाता, तो फिर ब्रह्मानन्द से गोकुलवासियों का निकालना भी व्यर्थ हो जाता । अर्थात् भजनानन्द का स्वरूप इस प्रकार का है, इसमें इस प्रकार का आनन्द है, इस प्रकार का ज्ञान स्वामिनियों को न होने से भजनानन्द दिया भी—नहीं दिया जैसा हो जाता, अतः भजनानन्द दान के अनुरूप रासलीला द्वारा भगवान ने अपना आनन्द देने के लिये यह सब प्रकार किया है ।

प्रकाशव्याख्याकार श्री पुरुषोत्तम जी प्रकाश में इसका आशय इस प्रकार कहते हैं कि यह फलप्रकरण है, इसमें सर्व का ही फल कहना चाहिये, रसात्मक फल प्रमेयप्रकरण में भी दिखाया है, फिर यह तो फल प्रकरण है, इसमें तो कुछ प्रमेय प्रकरण से भी विशेषता कहनी चाहिये ।

विशेषता तो क्रमस्वारस्य से, ब्रह्मानन्द से भजनानन्द में अधिक है, सिद्ध होगी, नहीं तो शुकदेव जी पूर्वप्रकरण की समाप्ति में वैकुण्ठ में ले जाना और वहाँ से गोकुलवासियों को लौटाना नहीं कहते, केवल वैकुण्ठ में नयन मात्र ही कहते, अतः ब्रह्मानन्द से भजनानन्द विशेष ही है, इस प्रकार निश्चय करना चाहिये ।

विशेष भी दोनों का फल पृथक्-पृथक् अधिकरण में कहा गया है, इसलिये दोनों में मुख्य तथा अवान्तर भाव भी नहीं हो सकता है ।

समान अधिकरण को आक्षिप्त करके प्रथम गोपियों में पश्चात् गोपों में भजनानन्द का दान कहा है, इस आशय से गोपियों के द्वारा पुरुषों को भी प्राप्त होगा, इसको आगे कहेंगे ।

ब्रह्मानन्द सब में सामान्य है, इसलिये गोपियों में भी होने से कोई बाधक नहीं है ।

यदि शंका करो कि गोपियों को ब्रह्मानन्द की आकांक्षा नहीं है फिर गोपियों में ब्रह्मानंद को क्यों कहते हो ? इसका उत्तर यह है कि भक्ति का स्वभाव ही इस प्रकार का है कि जिससे ब्रह्मानन्द भी सिद्ध हो जाता है— 'हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमप्वीं प्रयुक्ते' इसमें

यह वाक्य प्रमाण है और 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में यजमान मात्र को स्वर्ग की कामना होती है—'सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति' इस श्रुति में यजमान के परिकर को भी स्वर्ग-फल होता है, यह कहा है । उसी प्रकार यहाँ यद्यपि गोपियों की इच्छा ब्रह्मानन्द की नहीं है, तथापि ब्रह्मानन्द गोपियों में विद्यमान है ।

भगवान के कार्यस्वरूप का विचार करते हैं तो गोपों में भजनानन्द और गोपियों में ब्रह्मानन्द का होना ठीक ही है, कारण कि भगवान भक्त के इच्छानुसार ही फलदान करते हैं, इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, यह बात विप्रयोग तथा ज्ञानोपदेश आदि से निश्चय होती है, व्रजभक्त क्या विप्रयोग चाहते थे, अथवा ज्ञान का उपदेश चाहते थे, गोपियाँ इन दोनों बातों को नहीं चाहती थीं, फिर भी भगवान ने अपनी इच्छा से दोनों कार्य किये ।

भगवान का कार्य एक है, उक्त न्याय से गोपों को भगवान की सूक्ष्म गति देखने की इच्छा हुई, तब भगवान का कार्य गोपियों में ब्रह्मानन्द के अनुभव को प्रमाणित करता है, वास्तव में तो जो प्रकार ब्रह्मानन्द से निकालने का कह आये हैं उसका यहां बोध किया है, इसलिये पृथक्-पृथक् अधिकरण होने पर भी दोष नहीं है, इस बात को आगे पंचम अध्याय में कहेंगे । 'यथार्भकः' इस श्लोक के आभास में 'ब्रह्मभावाभावात्' ब्रह्मभाव का अभाव होने से दोष नहीं है, भ्रमरगीत आदि की कथा का विरोध नहीं है, कारण कि इस समय का फल निरोधशेष अङ्ग है, और ब्रह्मानन्द से निकालने में निरोध को फल शेष-अङ्ग है, इसलिये किसी शंका को अवकाश नहीं है ।

सुबोधिनीकार श्री वल्लभाचार्य जी 'भजनानन्दयोजने' इसमें यह लिखते हैं कि 'मुख्या गो-व्रज-योषितः' भजनानन्द का दान करने में मुख्य गाय तथा व्रज की स्त्रियाँ हैं, इसलिये १ श्रुतिरूपा, २ ऋषिरूपा, दोनों प्रकार की गोपिकाओं को भजनानन्द का दान करना यहां प्रकरणार्थ है, गोपों को नहीं है, कारण कि कारिका में 'समुद्धृत्य' इसमें क्त्वा को ल्यप् प्रत्यय हुआ है वह समान कर्त्ता में है, समान कर्म में नहीं हुआ है, इसलिये ब्रह्मानन्द का योजन-अनुभव तो समस्त गोकुल को हुआ है, किन्तु भजनानन्द में योजन गोपियों का ही है, अतः कोई कहे कि संगति कैसे होगी तो इस शंका को अवसर ही नहीं है । महाप्रभु जी उक्त कारिका का अन्वय इस प्रकार करते हैं—

'ब्रह्मानन्दात् सर्वान् उद्धृत्य गोपीनां भजनानन्दयोजने भगवता कर्त्तव्ये सति या लीला युज्यते सा तुर्ये निरूप्यते' अर्थात् ब्रह्मानन्द से तो सर्व गोकुल को निकाला किन्तु गोपियों को भजनानन्द के योजन में भगवान के द्वारा कर्तव्य में जो लीला उपयुक्त होती है वह फलप्रकरण में कहते हैं, देवयात्रा प्रसङ्ग तो अन्यभावनिवृत्त करने वाला है ।

प्रभुचरण कहते हैं कि यदि शंका करो कि स्त्रियों के लिये ही भजनानन्द का दान किया है, उसमें भी प्रथम अन्य विवाहिता गोपों की स्त्रियों को, यद्यपि कुमारिका अन्य विवाहिता नहीं हैं, और न इनका भगवान के साथ विवाह ही हुआ है, तथापि कुमारिकाओं को भी भजनानन्द का दान करना न्यायसंगत ही है, कारण कि वरदान देने के अनन्तर भी 'लब्धकामाः कुमारिकाः' प्राप्तकाम कुमारिका हुईं, यह कहा है । तो फिर स्त्रियों को ही भजनानन्द का दान क्यों किया इसमें कारण क्या है ? इस प्रकार की शंका में कारण कहते हैं—

'लौकिकस्त्रीषु संसिद्धः' रसात्मक भजनानन्द रसशास्त्र की रीति से परकीया में अच्छे प्रकार से प्राप्त होता है, इसलिये गोपस्त्रियों को भजनानन्द का दान दिया ।

कुमारिकाओं में भी भगवान के साथ विवाह न होने के कारण अविवाहिता होने से 'परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका मताः' इस लक्षण से परकीयात्व ही है ।

'तद्द्वारा पुरुषे भवेत्' इस कथा के श्रवण करने से भावोदय वाले पुरुष में भी भजनानन्द रस प्राप्त हो जाता है, और प्रकार से प्राप्त नहीं होता।

'स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता' पुरुषोत्तमसंबंधी आनन्द का अनुभव प्राप्त करने के लिये स्वामिनियों में लक्ष्मी के तुल्य योग्यता का भी निरूपण किया है।

यहाँ गोस्वामि श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि भजनानन्द स्वरूपात्मक है, कारण कि 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियाँ भगवान का रसरूप कहती हैं, रस जैसा रसशास्त्र में कहा है, वैसा ही है, रसशास्त्र में जिस स्त्री के साथ अपना विवाह न हुआ हो उसमें मुख्य रस कहा है, अतः लोक-सम्बन्धिनी लौकिकी, अर्थात् भगवान से अतिरिक्त जिस स्त्री का लोक में विवाह लक्षण-सम्बन्ध हुआ हो वह लौकिकी परकीया कहलाती है, उसमें रस सम्यक् सिद्ध होता है। इसके अनन्तर इस कथा के श्रवण करने से परकीयात्व भाव पुरुष में होने पर उसको भी भजनानन्द रस का अनुभव हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं होता, इसलिये भगवान ने स्त्रियों को ही भजनानन्द का दान दिया।

कारिका में 'संसिद्ध' पद कहा है, इसका आशय यह है कि प्रथम भूलोक में इस रस की स्वरूपसिद्धि गोपियों में ही सम्भव होती है, अतः भगवान ने रस की सिद्धि के लिये भी गोपियों को रस का दान करके रस का स्वरूप सिद्ध किया है।

भगवान का रमण लक्ष्मी के तुल्य होने पर होता है, इस प्रकार की मर्यादा है। लक्ष्मी ब्रह्मानन्दरूपा है, प्रथम अध्याय में गोपियों में ब्रह्मभाव कहा है, इसलिये गोपियों में लक्ष्मीरूप होने से मर्यादा भी संपन्न हो गई है, इस कारण से भी गोपियों के साथ भगवान ने रमण किया है, अतः कारिका में 'स्वानन्दानुभवार्थं' अपना अनुभव कराने के लिए यह कहा है।

यद्यपि स्वामिनियों में ब्रह्मभाव होने से कुछ विशेष नहीं हुआ, तथापि 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' उसमें अधिक प्रविष्ट होने पर भी कोई हानि नहीं होती, इस न्याय से 'योग्यतापि' योग्यता भी अपि शब्द से ज्ञापन की है।

'स्वानन्दानुभवार्थं' स्वासाम्, आनन्दानुभवः स्वानन्दानुभवः। इस प्रकार समास करने पर 'स्व' पद स्वामिनीवाचक है, इसका अनुभव पद के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये, आनन्दपद भजनानन्द पर है, अर्थात् स्वामिनियों को परमानन्द का अनुभव कराने के लिये योग्यता, ब्रह्मभावरूप भगवान ने की है, यह अर्थ हुआ।

ब्रह्मभावरूप योग्यता तो गोपों में भी है इसलिये प्रथम किये अर्थ में अरुचि के कारण पक्षान्तर कहते हैं।

'अथवा, बलदेव जी में अपने धर्मों का निरूपण करके भगवान् ने 'गोप्यन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः' इस वाक्य में कहा है कि गोपियों की तरह रस प्राप्ति की इच्छा लक्ष्मी भी करती हैं, किन्तु गोपियों की तरह यह रस लक्ष्मी जी को भी दुर्लभ है, इस परमानन्द रस को प्राप्त करने वाली गोपियाँ धन्य हैं, इसलिये व्रज की स्त्रियों में ही स्वानन्दानुभव योग्यता निरूपण की है। न तो अन्य पुरुषों में और न अन्य स्त्रियों में ही योग्यता है, कारण कि गोपियाँ ही इस रस को पाने की अधिकारिणी हैं, इसलिये भगवान ने गोपियों को ही परमानन्द रस का दान दिया है।

प्रथम कहे पक्ष में गोपियों की योग्यता तो कही, किन्तु योग्यता का बीज नहीं कहा, अतः बीज कहने के लिये पक्षान्तर कहते हैं।

'हेमन्ते प्रथमे मासि' इस श्लोक की सुबोधिनी में भगवान की प्रसादरूपा शक्ति स्त्री का प्रवेश जिसमें हो जाता है, उसमें प्रभु से सम्बन्ध करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। वह योग्यता

गोपियों में संपन्न है इस बात को प्रथम कह आये हैं। अतः भगवान की प्रसादरूपा शक्ति स्त्री का पुरुष में भी प्रवेश हो जायेगा तो उसका भी गोपियों की तरह भाव हो जायेगा, इसी आशय से कहते हैं 'तद्द्वारा पुरुषे भवेत्'।

प्रसादशक्ति के प्रवेश द्वारा अथवा व्रजभक्तों के अनुग्रह से पुरुषों को भी परमानन्द रस की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार योग्यता अनुग्रह से ही एकलभ्य है, यह दृढ किया है। कारण कि नित्य लीला में स्थित भक्तों सहित प्रभु का दर्शन करने पर, प्रभु के अनुग्रह से श्रुतियों को भी भाव उत्पन्न हो गया था।

'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः' इत्यादि वाक्य श्रुतियों ने कहे थे। गोपों में इस प्रकार का भाव नहीं है, इसलिये योग्यता न होने के कारण भगवान ने गोपों को भजनानन्द का दान नहीं दिया है। व्रज की स्त्रियों में संसिद्ध तथा योग्यता है, इसलिये भजनानन्द भगवान ने गोपियों को दिया है।

यहां महाप्रभु श्री वल्लभ जी कहते हैं कि दोनों कारिकाओं में पुरुष पद कहा है, पुरुष पद से 'स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम्' इस वाक्य में कहे हुए जानने चाहिये, किन्तु केवल गोप नहीं, कोई भी स्त्री-पुरुष पति-भाव से केशव को भजेगा तो भजनानन्द प्राप्त होगा। प्रथम कारिका में यह सिद्ध किया है कि व्रजभक्तों के अनुग्रह द्वारा पुरुषों को भी परमानन्द फल की प्राप्ति होगी, किन्तु जिसमें प्रसादरूपा शक्ति का प्रवेश होगा, अथवा, व्रजभक्तों का अनुग्रह होगा, उसमें भी स्त्रीत्व-स्त्रीभाव के बिना परमानन्द रस की प्राप्ति नहीं होती है, इसी आशय को आगे की कारिका में कहते हैं 'स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्ताः'। व्रजसीमन्तिनी स्त्रियाँ ही रसात्मक गोकुल, वृन्दावन आदि में प्रकट पुरुष रूप भगवान के रस-पान का सर्वेन्द्रियों से आस्वादन करने के लिये शक्य-समर्थ हैं, अर्थात् रसशास्त्रोक्त वय-गुणविशेष आदि से गोपियाँ ही उस रस का आस्वादन करने में संपन्न हैं। फिर स्त्रियों के पान करने के अनन्तर पुरुष भगवान का प्रथम जिस गोपी ने रसपान किया था, उसमें उसी रस के पान करने के लिए आप शक्य-समर्थ हैं। कारण कि रस अधिक होने पर पुंभाव हो जाता है, यह बात रसशास्त्र-सिद्ध है। प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि यदि शंका करो कि ब्रह्मानंद नित्य है—

'न स पुनरावर्तते' 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यादि श्रुति तथा न्याय से इस प्रकार सिद्ध किया है कि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में आधिक्य है, अतः इस लीला को नित्यता अवश्य होनी चाहिये।

लीलायें तथा लीलाओं का अनुभव करने वाली गोपियाँ बहुत-सी हैं, और भिन्न-भिन्न काल में लीलायें हुई हैं, इसलिये नित्यता तो बाधित होती है।

इस शंका के उत्तर में लीलाओं को स्वरूप से एवं प्रवाह से नित्यत्व अधिकारी निरूपण मुख से श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं। कारण कि पूर्वोक्त स्त्रियाँ ही रसयोग्य एवं रसपान करने में समर्थ है, इसलिये भगवान कभी भी रमण में व्यवधान नहीं करते हैं, अर्थात् निरन्तर रमण करते हैं, अतः रमणरूप से लीलाओं के स्वरूप को नित्यता है तथा बाहर-भीतररूप से प्रवाह को नित्यता है।

इसका विशेष स्पष्ट अर्थ यह है कि बाह्य रमण में रसात्मा भगवान धर्मसहित हैं और आन्तर रमण में तो नाट्य की तरह केवल हैं, धर्मरहित हैं। अतः इस प्रकार का रमण संपादन करने वाले व्रजभक्त नित्य हैं एवं परिच्छिन्न हैं।

भगवान का आविर्भाव कालचक्र की तरह जाता-आता रहता है, इसलिये प्रवाहरूप होने से भी स्वरूप नित्य निराबाध है, बाधित नहीं है।

भगवान नित्य रमण करते हैं 'अतो हि भगवान्' कारण कि रसात्मक भगवान के स्वरूप के अनुभव में विविध रसभावपोषक व्रजभूषण भक्त ही अनुरूप हैं, अन्य कोई नहीं है, इसलिये भगवान कृष्ण षडैश्वर्यवान सदानन्द (स्त्रीपु) रसशास्त्र के अनुसार वय-गुणविशेषादि-संपन्न व्रजसीमन्तिनियों में रात्रि-दिन बाह्य तथा आन्तरभेद से व्यवधानरहित–निरन्तर रमण करते हैं।

उसमें भी बाह्य रमण की अपेक्षा आन्तर–भीतर रमण तो परफल अथवा महाफल है, कारण कि भीतर रमण में प्रियतम के विप्रयोग समय में सखीवृन्द के साथ परस्पर गुण-गान करने में जिनका कभी अनुभव नहीं किया तथा अनिर्वचनीय–वाणी से न कहे जा सकें इस प्रकार के अनेक भावों का समूहात्मक गुणगानरूप महाफल मिलता है।

इसका परिज्ञान तो उक्त अवस्था को प्राप्त हुए रसिक भक्त ही जान सकते हैं, और इस प्रकार के परस्पर गुणानुवाद में लीलासहित प्रियतम का प्राकट्य होता है तथा प्राकट्य से भीतर भावविशेष उत्पन्न होते हैं जो भाव सङ्गम-संयोग में भी नहीं होते हैं, इसलिए आन्तर—भीतर रमण को परम महाफल कहा है।

अब निष्कर्ष कहते हैं—

स्त्रियाँ ही भजनानन्द का पान करने के लिये समर्थ हैं, स्त्रियों के पान करने के अनन्तर पुरुष स्त्रियों का रसपान कर सकते हैं, आनन्तर रमण महाफल है, इसका विचार करते हैं, 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति के अनुसार प्रपञ्च, नाम और रूपभेद से दो प्रकार का है, अर्थात् नाम रूप और रूप-रूप। इसी प्रकार लीला प्रपञ्च भी दो प्रकार का है, (१)—गुणगान-लक्षण नामात्मक भगवान के स्वरूप की परमानन्दरूप भावात्मक रमण वाली लीला, प्रिय में दोषारोपण आदि दोषरहित हैं, इसका सप्तमाध्याय में आगे निरूपण करेंगे।

आन्तर—भीतर रमण निर्दोष है इसलिये पर है, इसी को आगे कारिका से कहते हैं— 'ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते' बाह्य रमण पांच अध्याय में करने के अनन्तर युगल गीत के अध्याय में कही गुणगान लक्षण लीला निर्दुष्टा–निर्दोष है।

रूपलीला में मान आदि के द्वारा भगवान में दोषारोपण भक्त करते हैं, अतः सदोष है, नामलीला में तो प्रभु में दोषारोपण दोष नहीं है, इसलिये निर्दोष है, वह शब्दात्मिका लीला निरूपण की गई है, शब्द द्वारा आत्मा, स्वरूप जिसका उसकी लीला, इस प्रकार समास सुबोधिनीकार ने किया है, टिप्पणी के अनुसार अर्थस्वारस्य 'शब्द की लीला' है, इस प्रकार सप्तम अध्याय की व्यवस्था कही है, शब्दात्मिका लीला भी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भेद से दो प्रकार की है, षष्ठाध्याय में प्रवृत्तिरूपा है और सप्तमाध्याय में निवृत्तिरूपा है।

प्रथम पांच अध्याय की लीला जिस प्रकार पूर्व कथनानुसार दोषसहित है, उसी प्रकार षष्ठाध्याय में भी वेदात्मक शेषरूप बलदेव जी के साथ की गई लीला में शङ्खचूड़ की उक्ति दोष सहित है तथा शङ्खचूड़ के वध की उक्ति से यहां वह भी निर्दोष मालूम पड़ती है। अतः दो अध्यायों में निरूपण है।

भगवान कृष्ण रात्रि-दिन स्त्रियों के साथ रमण करते रहते हैं, इस विषय में प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिस प्रकार यहां शङ्खचूड़ के वध के कारण दोषनिवृत्ति है, उसी प्रकार पञ्चाध्यायी की लीला में 'नार्हत्तु सख्यः' इत्यादि वाक्यों द्वारा भक्तों के अन्तःकरण में

स्थित दोषों की निवृत्ति हो गई है, इसलिये दोनों लीलायें दोषरहित हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम पञ्चाध्यायी की लीला में भगवान के प्रयत्न से गोपियाँ दोषरहित हुईं और शब्दात्मिका लीला में अपने आप ही दोष निवृत्त हो गये, इसलिये उत्तर लीला को परत्व कहा है।

ब्रह्मानन्द से अधिक परमानन्द तो दोनों लीलाओं में ही प्राप्त हुआ है, कारण कि अनुग्रह-विशेष नियत होने से फल प्राप्त हुआ है, इस प्रकार फलप्रकरण का तात्पर्य है, यह सर्व 'लीलाया युज्यते सम्यक्' इसमें सम्यक् पद से प्रथम ज्ञापन किया है, निष्कर्ष इस प्रकार है कि बाह्य रमण के अनन्तर दोषरहित शब्दात्मिका लीला ६-७ दो अध्यायों में कही है। इस प्रकार प्रकरण का अर्थ कहकर इसके अवान्तर प्रकरण के अध्यायों का विभाजन करते हैं।

(२) रूप पंचात्मक है, इसीलिए रूप का दान भी पांच प्रकार से दिया है, अतः रूप-प्रपञ्च का निरूपण पांच अध्याय से किया है। इसको आगे कहते हैं, 'ततो रूपप्रपञ्चस्य' इत्यादि। भगवान ने पञ्चात्मकरूप के जिस अंश से जो रमण-आनन्द स्थापन लीला की है उस लीला को क्रम से डेढ़ कारिका से कहते हैं।

'आत्मा से प्रथमाध्याय में लीला की है, द्वितीयाध्याय में मन द्वारा की है, वाणी तथा प्राण द्वारा तृतीय अध्याय में की है, इन्द्रियों द्वारा चतुर्थ अध्याय में लीला की है और शरीर से भगवान ने पांचवें अध्याय में लीला की है।

इस प्रकार पांच अध्यायों में एक-एक में एक-एक अंश से लीला अध्याय का अर्थ है। इस प्रकार टिप्पणी में प्रथम पक्ष कहा है। दूसरे पक्ष में उक्त पांचो लीलायें प्रत्येक अध्याय में भगवान ने की हैं, इस प्रकार कहा है—

यद्यपि पुरुषोत्तम का स्वरूप 'स यथा सैन्धवघनः' इस श्रुति के अनुसार सैंधवघन–नमक की तरह आनन्दैकघनरूप है, अतः एक रस कर-चरणादि अवयव आनन्दमय हैं और साकार-रूप से प्रतीयमान पुरुषोत्तम को ही आत्मरूपता है, प्रतीयमान पुरुषोत्तम देह में जीव की तरह आत्मा की स्थिति नहीं है, तथापि 'पश्यन् चक्षुर्वदत्वाक्' अर्थात् देखता हुआ चक्षु, बोलती हुई वाणी, इस श्रुति के अनुसार तत्तद् इन्द्रियों के कार्य करते हुए भगवान ही इन्द्रिय रूप हैं, उसी प्रकार भगवान का आत्मकार्य करते हुए आत्मशब्द से व्यवहार होता है।

इसी से श्री विट्ठलनाथ जी ने टिप्पणी में कारिका निरूपण की है—

'यथेन्द्रियादिरूपत्वं शुद्धस्य ब्रह्मणस्तथा।
आत्मत्वादि स्वरूपत्वं मन्तव्यं श्रुतिवाक्यतः।

इस कारिका में आत्मरूपता ब्रह्म की निरूपण की है।

आत्मकार्य तो पुरञ्जन के उपाख्यान में स्पष्ट है, वहां पर केवल आत्मा को लिङ्ग-शरीर से सम्बन्ध करना तथा स्थूल देह में वास करना वर्णन किया है। इसलिये प्रथम से सर्व-वस्तु का संपादन करना आत्मकार्य है।

इसी प्रकार यहां भी आत्मकार्य भगवान का 'रन्तुं मनश्चक्रे' इत्यादि वाक्यों द्वारा नूतन मन आदि सर्वसामग्री संपादन करने का निरूपण किया है। इसलिये प्रथमाध्याय में भगवान के आत्मकार्य का वर्णन किया है।

स्वतन्त्र लेख में जो बात आत्मा की लीला के विषय में कह आये हैं उसी को विशेष श्रुति प्रमाण देकर पुष्ट किया है, और कहा है कि जिस प्रकार इन्द्रियादि संघात में आत्मा को मुख्यता है, उसी प्रकार प्रकृत विषय में स्वामिनीभाव को प्रधानता है, अतः प्रथम अध्याय में स्वामिनीभाव कहा है।

यदि कहो कि भाव मन का विकार होता है, तो उसको ब्रह्मरूपता कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि प्रभु रसरूप हैं, यह श्रुति कहती है, रस स्थायिभावात्मक है, 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इस श्रुति के अनुसार भगवान भावरूप मन में प्रकट होते हैं, इसलिये विकारत्व नहीं है, भाव को ब्रह्मरूपत्व है।

वेणुगीत में यह कह आये हैं कि जितना कार्य है, वह सब आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार यहां भी भाव के अधीन है। यदि कहो कि भगवान में सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत का अभाव है फिर 'आत्मना' इत्यादि डेढ कारिका की सङ्गति कैसे हो सकती है ?

इसका उत्तर 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः, प्राणस्यैव प्राणो भवति' इत्यादि श्रुतियां में जिस प्रकार तत्तत्कार्य करने के लिये इन्द्रियादि रूप भगवान का वैदिक लोग मानते हैं, उसी प्रकार 'यस्यात्मा शरीरम्' 'य आत्मानमन्तरोयमयतीति' इस श्रुति वाक्य से भगवान आत्मा आदि के भोक्ता हैं, इसलिये आत्मस्वरूप भी हैं। सारांश यह है कि तत्तत्कार्य करने के कारण तत्तद्रूप स्वयं ही भगवान हैं, इसलिए द्वैतापत्ति नहीं है।

'आत्मना प्रथमा लीला' इस प्रकार कारिका में ठीक ही कहा है। आगे मन आदि की प्राधान्यता से तत्तल्लीला कही हैं, गोपिकाओं में मनः प्रभृति सर्व अपने नहीं हैं, भगवान के हैं, इस प्रकार यह विप्रयोगदशा का ज्ञापन किया है, यह सब आन्तर फल सिद्ध होने के लिये भगवान ने किया है, इस लीला के करने में बीज प्रथम 'आत्मनालीला' आत्मा से लीला है, कारण कि आत्मा आधारभूत लिङ्ग शरीर से उपजीवन करता है।

दूसरी लीला मन से की है, 'प्राणबन्धनं हि मनः' इस श्रुति के अनुसार मन प्राण के अधीन है, इसलिये प्राण द्वारा मन को उपजीव्यत्व है, वाणी प्राण का विकार है, इसलिए प्राण के अन्तर्गत होने से तीसरी लीला वाणी प्राण द्वारा की है।

इसके अनन्तर इन्द्रियां प्राणव्रत वाली हैं, इसलिये इन्द्रियों को प्राण द्वारा उपजीवकत्व है, अतः चतुर्थ अध्याय में चौथी लीला इन्द्रियों द्वारा की है।

फिर शरीर सबका उपजीवक है, इसलिये शारीरी लीला पांचवीं है। इस प्रकार यह श्रौत वासनारूप है, उक्त कहने से अध्यायसङ्गति भी कह दी है, अतः पृथक् नहीं कही। उक्त पक्ष में भक्तस्वरूप के न्यग्भाव से रसात्मक भगवान की लीला होती है, रसवान की नहीं होती है।

भगवान तो रसावान भी हैं, अतः रसवानरूप से भी लीला वाच्य—कहने योग्य ही है, नहीं तो मूल वाक्य असङ्गत हो जाये, इस सबका अभिसंधान करके आत्मा आदि को कारणत्व भी विरुद्ध न हो, इसलिये टिप्पणी में दूसरा पक्ष कहा है, 'अथवा आत्मना प्रथमा' इत्यादि से प्रत्येक अध्याय में पांचो प्रकार से लीला कही है, उसी को स्पष्ट कहते हैं कि प्रियाओं को फलदान देने के लिये भगवान इस प्रकार का रूप प्रकट करके स्थित हुए।

(१) 'भगवानपि' यहां भगवत्पद से आत्मा द्वारा लीला कही।

(२) 'मनश्चक्रे, कृष्णगृहीतमानसाः' इत्यादि श्लोक में परस्पर गोपियां तथा भगवान के चित्त की लगन कहने से मन से लीला कही।

(३) अनन्तर 'स्वागतं वो' इसमें वाणी से लीला की, भगवान के वचन श्रवण कर गोपियों के प्राणों की स्थिति में तो प्राणरूप से भगवान ही वाणी द्वारा प्रविष्ट हुए, इसलिये प्राणों की लीला कही।

इसीलिये 'प्रतिभाषमाणम्' यहां भाषमाण पद कहने से ही चरितार्थता हो जाती फिर प्रति शब्द जो कहा है, इससे अपने प्रवेश के कारण प्रतिकूल भाषण अर्थ है, 'वाक् प्राणैः' यहां

एक पद कहा है और अग्रिमाध्याय की लीला में 'वाक् प्राण' इस प्रकार ऐक्यता से ही लीला का विवरण किया है। इसलिये यहां दोनों का भेद वर्णन करना युक्त है, इसी आशय से तृतीयाध्याय का विचार टिप्पणी में कहते हैं कि, 'बलं हि प्राणानां धर्मः' 'अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलम्' अन्न से प्राण और प्राणों से बल होता है, अतः बल प्राणों का धर्म है और वह अलौकिक है। इसीलिए प्राण भगवान को वशीकरण लक्षण बलयुक्त कहा है, अतः स्वामिनी वाणीरूप तथा प्राणरूप होने के कारण वाणी तथा प्राणों द्वारा लीला है।

(४) इसके अनन्तर इन्द्रिय और (५) शरीर की लीला स्पष्ट है।

भगवान का तिरोधान भी कायिक है, इस हेतु से स्वरूप की अभिव्यक्ति शारीरी लीला है, इस प्रकार प्रथमाध्याय में पाँच प्रकार की लीला कही है।

(१) द्वितीयाध्याय में, तिरोधान दशा में व्रजभक्तों की आत्मा भगवान में ही प्रविष्ठ है, इसीलिए भगवान ने ही आत्मत्व से व्रजभक्तों में स्थित होकर कार्य किया है, इस प्रकार आत्मा द्वारा लीला है।

(२-३-४) इसी प्रकार मन आदि से लेकर इन्द्रियपर्यन्त भगवान ने ही तत्तद् रूप से मन आदि रूप से कार्य किया है, इस प्रकार जानना चाहिये।

(५) 'नात्मागाराणि सस्मरुः' इस वाक्य से देह की स्मृतिरहित गोपियों का पुनः पुलिन में आगमन अपने आप सम्भव नहीं हो सकता है, अतः वह शारीरी लीला है।

तृतीयाध्याय में (१) व्रज के उत्कर्ष का हेतु, दर्शन के बिना वधहेतु, रक्षा करना, अलौकिकत्व प्रतिपादन में ब्रह्म की प्रार्थना से प्राकट्य, यह सर्वस्वरूप मात्र का ही कार्य बतलाया है, इसलिए आत्मा द्वारा की गई लीला का चार श्लोक में प्रतिपादन है।

(२) इसके आगे भगवान के निकट आगमन, दो प्रकार का रमण तथा मुख्य रसदान की प्रार्थना करना, ये सब उद्दीप्तभावपूर्वक हैं, भाव मन में रहते हैं, इसलिए मन की लीला चार श्लोक में कही है।

(३) इसके अनन्तर एक श्लोक से गोपियों की प्राण-स्थिति में हेतु कथास्वरूप का निरूपण है, यहां वाक्प्राणरूपता स्पष्ट ही है।

(४) इसके आगे 'प्रहसित ईक्षण' आदि इन्द्रियकार्य है, इस लिए इन्द्रिय द्वारा लीला है। इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दो प्रकार की हैं, इसलिए इन्द्रिय द्वारा लीला दो श्लोक में कही है।

(५) अनन्तर दिन के अन्त में भगवान अपने मुख का प्रदर्शन स्वयं आकर कराते हैं, अतः शारीरी लीला है।

इसके आगे भगवान को शारीरत्व स्पष्ट है, अधरामृतदान करना, रतान्तःपाति है, इसलिए शरीर से ही होता है, वन में घूमना शरीर को स्पष्ट बतलाता है, दर्शन के अन्तराय से दुःख देने में हेतु स्वरूप ही है, इसलिए यह भी शारीरी लीला ही है। आगे त्याग भी दैहिक ही है तथा आगे मुख तथा उरःस्थल भी देह-मध्य-पाती होने से शारीरी लीला ही है।

इसके आगे स्वरूप प्रकट होने की प्रार्थना तथा आगे चरणाम्बुरुह भी देह है यह भी शारीरी लीला स्पष्ट है।

स्वामिनियों को भगवान का बाहर प्राकट्य ही अभीष्ट है, प्रकट ईश्वर को ही ईश्वरवाद समझती हैं, नहीं तो शून्यवाद समझती हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिए ऐश्वर्य समान

संख्या श्लोकों द्वारा अर्थात् अणिमादि भेद से ऐश्वर्य आठ प्रकार का है, अतः आठ श्लोकों से दैहिकी लीला का निरूपण किया है।

चतुर्थ अध्याय में प्रिय का प्राकट्य होने से गोपियों को प्रथम दशा विस्मृत हो गई, इस बात को ज्ञापन करने के लिए कहे हुए क्रम का अतिक्रम कहते हैं।

(१) दैन्यभाव तथा बाहर प्रकटरूप से साधन तथा फलरूप से—आत्मा द्वारा लीला है।

(२) फिर आगे सर्वव्रजसीमन्तिनियों का उत्थान भगवान के मन से ही हुआ है, इसलिए मन से लीला है।

(३) फिर इन्द्रियों से स्पष्ट ही है।

(४) इसके आगे अग्रिम लीला के योग्य स्थल में जाना, और वहां आसन पर बैठना आदि शारीरी लीला है।

(५) फिर वहां वाणीरूप है, भगवान ने कहा कि 'मैं तुम्हारे पास में ही था, तिरोहित नहीं हुआ' इस प्रकार कहने से वाणी तथा प्राणरूप लीला है।

पञ्चम अध्याय में (१) प्रतिबन्ध निवृत्त करके भगवान ने अङ्गों से गोपियों का पोषण किया है और गोपियों का पहिले की तरह भाव संपन्न कर दिया है। इसलिए आत्मा से लीला है।

(२) क्रीडा करने से मन के रस का उद्गम होता है, इसलिये क्रीडा का आरम्भ होना मन से लीला है। क्रीडा के समय भगवान तथा गोपियों की शोभा भी मानसी लीला है।

(३) इसके आगे भगवान् के साथ गान वाक्प्राणों द्वारा लीला है।

(४) अनन्तर भगवान का स्कन्ध–कंधा ग्रहण, आघ्राण रस का आस्वादन आदि हस्त-कमलधारण पर्यन्त इन्द्रियों द्वारा लीला है।

(५) इसके आगे शारीरी लीला है।

इस प्रकार पांच अध्याय में आलम्बनरूप प्रत्येक में पांच लीला कहकर भगवान की लीला के भी क्रम का समर्थन किया है, कारण कि एक समय में ही पांचो लीला करने से रूप प्रतिष्ठित भगवान् करते तो दूसरे अध्यायों में की हुई लीला व्यर्थ हो जाती।

कहीं पर क्रमभङ्ग जो कहा है, वहां पर तो आलम्बनीयरूप से बीज का अभाव है, इस शंका को हृदय में करके पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा'

'शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः' ॥

इस प्रकार यह श्लोकरूप वात्स्यायन सूत्र है। इसके अनुसार जिस समय दोनों नायक-नायिकाओं में उद्भट भाव उत्पन्न हो जाता है, उस समय सर्वत्र सर्वलीला होती है, किसी क्रम, शास्त्र की मर्यादा नहीं रहती है, इसलिये यहां भी सर्वत्र सर्वलीला कही है, पूर्वोक्त क्रम विवक्षित नहीं है, इस प्रकार यह रसशास्त्र की मर्यादा है। रसिकों को स्वयं ही भावनीय है।

यहां पर यह जानना चाहिए कि भगवान् रसरूप हैं, उनका आलम्बन स्वाभाविक है, इस लिये भक्तों में जो सर्वात्मभाव है वह रसात्मक है, अतः भक्त आलम्बन हैं।

यद्यपि क्रम की विवक्षा नहीं है, तथापि 'अन्यो हन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' इस प्रकरण की श्रुति अनुसार भेद की सत्ता होने से सकृत एक समय में लीला जब होगी तो फिर उसकी निवृत्ति भी नहीं होगी, निवृत्ति न होने पर लय होना असंभव हो जायेगा, अतः असकृत बार-बार लीला करना ही विवक्षित है।

भगवान् का धर्म स्वाभाविक होने से इतर अध्यायों की लीला भी व्यर्थ नहीं है। इस प्रकार भगवान ने प्रथम पांच प्रकार से आत्मा में, फिर पांच प्रकार से मन आदि में, इस प्रकार पांचों में

पांच प्रकार के धर्म सहित आलम्बन की स्थिति में भक्तस्वरूप का सम्यक् प्रकार से लय हो जाता है, अतः सुबोधिनी में विरोध की गन्ध नहीं है तथा शास्त्रीय हेतु कहने से प्रथम कहा क्रमत्याग दोष भी नहीं है।

'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' इस प्रकार भगवान् ने जो आत्मा आदि पांच प्रकार के स्वरूप की लीला की है, उससे हरिप्रियाओं में अपना रूप प्रतिष्ठित किया है, अर्थात् पूर्ण स्वरूपानन्द का दान दिया है।

इस प्रकार प्रथम प्रकरणीय अध्याय विभाग को कहकर, निर्वाहक अथवा कार्यकारणभाव अवान्तर दोनों प्रकरणों की सङ्गति का बोध किया, अब पच्चीसवें अध्याय तथा छब्बीसवें अध्याय की भी सङ्गति साधन फलरूप ही विशेषरूप से है, इसको कहने के लिये अध्यायार्थ कहते हैं।

श्री विट्ठलनाथ जी आज्ञा करते हैं कि प्रथम अध्याय में प्रभु ने स्वामिनीभावरूप आत्मा से लीला की है, अतः भक्तों के भी आत्मा में ही स्वानन्द-पूर्ण किया है, कारण कि जीव के आत्मलिङ्गरूप मन में भावरूप से प्राकट्य होता है, इसलिये लिङ्ग के भीतर स्थित जीव को समीपता है, अतः आत्मा में ही भगवान् ने अपना आनन्द पूर्ण किया है, इसी बात को कहते हैं कि 'षड्विंशेतु' छब्बीसवें अध्याय में 'हरिः' सर्वदुःखहर्ता भगवान् (पूर्व) प्रथम (स्वयं) आप (जीवान्) जीवों को (आनन्दयत्) आत्मानन्द देते हुए; यह भाव आनन्दरूप है, इसलिये प्रभु ने इस प्रकार का रसभाव पूर्ण किया कि जिससे गोपियां प्रभु के वचनों से भी निरपेक्ष हो गईं।

फिर भगवान ने क्रम से इतना विशेष भाव इस प्रकार का किया कि उस भाव से भगवान के स्वरूप से भी निरपेक्ष हो गईं, अर्थात् भगवान के स्वरूप की भी अपेक्षा नहीं रही। इसीसे गोपियों को मान हुआ है।

भगवान का भाव नित्य है, इसलिये यह भाव स्थायिभाव की तरह स्वामिनियों में नित्य—सदा है, यह जानना चाहिये। कारण कि इस रस में नायिका का प्राधान्य ही रहता है, इसी से आगे 'ईषत् कुपिताः' यह कहेंगे।

द्वितीय-तृतीय आदि लीला में करणभूत मन, वाणी, प्राण आदि में भी भगवान ने रसपूर्ण जिस प्रकार आत्मा में किया, उसी प्रकार भगवान ने अपने मन आदि का आनन्द देकर गोपियों के मन आदि को पूर्ण किया है।

प्रकाशकार कहते हैं कि यहां का सर्वप्रकार भगवान का गजजलपानन्याय से अपने स्वरूप के अनुभव के लिये है, इसलिये आत्मारामत्व का ही निर्वाहक है, इसी गूढाशय को श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि 'यमेवैष वृणुते' इस श्रुति के अनुसार भगवान ने जो कुछ इतना सब किया व्रजभक्तों में वह स्वतः—अपने आप ही भगवान ने किया है, साधनबल से नहीं किया है। इस बात को 'स्वयं' पद सूचित करता है।

यदि शंका करो कि तो फिर भगवान का गोपियों को नारद द्वारा बुलाना तथा घर गमन का बोध आदि करना अयुक्त हो जायेगा।

इस शंका के उत्तर में युक्ति कहते हैं कि भगवान जिस समय लीला करते हैं, उस समय शास्त्र मर्यादा दिखाते हैं, इसी आशय से आगे डेढ़ श्लोक कहते हैं कि 'ते चेत्समर्पितान्मानः' इत्यादि। वे भक्त यदि सर्वात्मभाव वाले होते हैं, तब ही इस रस की प्राप्ति होती है, और प्रकार से रस की प्राप्ति नहीं होती है।

उक्त प्रकार कहने से गोपियों में ही भगवान ने इस प्रकार से रमण किया है, औरों के साथ क्यों नहीं किया, इस शंका का भी उत्तर दे दिया है। अर्थात् अन्य भक्तों में सर्वात्मभाव न होने से उनके साथ भगवान् ने रमण नहीं किया है।

सर्वात्मभाव भी भगवत्कृत ही होता है, अन्यथा नहीं होता है, कारण कि भगवान के अनुग्रहविशेष से ही एक लभ्य होता है।

'स एवाधस्तात्' इत्यादि श्रुति में प्रतिपादन किया असाधारण कारणभूत स्थायीभूत सर्वात्मभाव है।

जिस प्रकार जीवों को चिदात्मकत्व है, उसी प्रकार स्थायित्व है। यदि कहो कि यह तो लौकिक में भी होता है। तब इस शंका के दूर करने के लिये श्रुति में लभ्य पद कहा है, अतः यह लौकिक नहीं है, भगवद्दत्त है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये सर्वात्मभाव के उपायरूप रमण की इच्छा, चन्द्रोदय, गान और निषेधवचन कहे हैं। अतः यहां आत्मसमर्पण में उपाय कहा है।

अन्तर्गृहगता गोपियों की कथा से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सर्वात्मभावरहित जीवों को उक्त रस की प्राप्ति नहीं है। यहां यह बात 'च' से कही है।

प्रकाशकार कहते हैं कि भगवद्विषयक रत्याख्य स्थायित्व भी सर्वात्मभाव का लक्षण नहीं है, तभी तो अन्तर्गृहगताओं को परमानन्द रस प्राप्त नहीं हुआ है। सर्वात्मभाव लौकिक और अलौकिक से विलक्षण है, इस बात के ज्ञापन करने के लिये श्रीविट्ठलनाथ जी कहते हैं कि मान तथा तिरोधान द्वारा अन्य भी सर्वात्मभाव-संबंधिनी मर्यादा ज्ञापन की जाती है कि 'आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्'।

इसमें 'भवति' क्रिया का प्रयोग करना चाहिये था, फिर जो 'अभूत्' भूतकाल का प्रयोग किया है, इसलिये यहां लट् के अर्थ में लुङ् का प्रयोग छान्दस है। इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि जब तक आत्मा भगवान के प्रपन्न-शरण होता है, तब तक ही 'हरि—सर्वदुःखहर्ता भगवान बाहर प्रकट होकर रमण करते हैं।

इस रस की मर्यादा को आगे स्वयं ही अन्त के दो श्लोकों में कहेंगे। भगवान अन्तः शरण के अभाव में बाहर से तिरोधान करते हैं, इसमें हेतु कहते हैं कि 'अन्तःकरण-सम्बन्धी' जिस प्रकार पति, पुत्र आदि शरीरसम्बन्धी हैं, उसी प्रकार हरि भगवान अन्तःकरण-सम्बन्धी हैं, और एक सर्वभाव प्रपत्ति से ही लभ्य हैं, सर्वभाव से प्रपत्ति अन्तःकरण का धर्म है, इसलिये कारण के अभाव में कार्य का न होना युक्त ही है। अर्थात् अन्तःप्रपत्ति के अभाव में बाहर से तिरोधान युक्त ही है, इसलिये भगवान् तिरोहित हो जाते हैं।

भगवान का तिरोधान भी मान से उत्पन्न दुःख को दूर करने के लिये ही है, इसलिये यहां 'हरि' पद कहा है, वह हरि दुःख दूर करनेवाला है।

एवं गजेन्द्रमुपवर्णित-निर्विशेषं ब्रह्मादयो विविध-लिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात् तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥

यह वाक्य गजेन्द्र के प्रसङ्ग में है, गजेन्द्र ने निर्विशेष ब्रह्म की स्तुति संकटकालीन दशा में की किन्तु ब्रह्मा आदि विविध चिह्नों के अभिमानी देवता गजेन्द्र की रक्षा करने नहीं आये, उस समय स्वयं भगवान् ने प्रकट होकर गजेन्द्र की रक्षा की।

उसी प्रकार अन्वेषण आदि साधनों द्वारा भगवान् प्रकट नहीं हुए, उस समय व्रजभक्तों में अति दैन्य प्रकट हुआ और दैन्य से प्रसन्न हो स्वयं प्रकट होकर भगवान ने गोपियों का दुःख निवारण आदि सर्वकार्य किया है।

उक्त प्रकार का विलक्षण व्याख्यान करके इस फल की प्राप्ति में दुर्लभता दिखायी है। इस प्रकार तिरोधान करके भी भगवान अनुग्रहीत भक्तों का त्याग नहीं करते हैं इस बात का बोध करने के लिये प्रकारान्तर से कहते हैं। अथवा, अन्तःप्रपत्ति नहीं हो और सर्वभाव से प्रपत्ति उत्पन्न करने के लिये भगवान् अन्तःकरण-सम्बन्धी हों, अर्थात् अन्तःकरण में स्थित होकर बाहर से तिरोहित हो जायें, भीतर से नहीं हों, इस प्रकार दूसरी मर्यादा है।

अब तीसरी मर्यादा कहते हैं, मान का यह सहज धर्म है कि नायक का तिरस्कार करना, नहीं बोलना और न देखना इत्यादि। प्रकृत में यह सर्वकार्य स्वयं ही प्रभु ने किया है, केवल इसी समय यह प्रकार है, किन्तु सर्व के लिये सर्वदा तो इस प्रकार की व्यवस्था है कि 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी' पूर्वोक्त रसभावात्मक प्रभु ही मानात्मक होते यदि अन्तःकरण-सम्बन्धी हों तो बाहर से तिरोधान को प्राप्त हो जाते हैं।

अथवा यदि शंका करो कि कायिक चेष्टा द्वारा भगवान ने मान को दूर क्यों नहीं किया, भीतर प्रविष्ट होकर क्यों किया? तब इस शंका में हेतु कहते हैं कि 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी' ज्ञान आदि भीतर अन्तःकरण आत्मा में ही होता है और भगवान अन्तःकरण आत्मसम्बन्धी हैं, शरीर-सम्बन्धी नहीं हैं, इसलिये बाहर से तिरोधान किया है।

प्रथम अध्याय में 'आत्मना' कहकर व्रजभक्तों की आत्मा में भगवान ने आनन्दपूरित किया है, आत्मा भीतर है, अतः भीतर प्रविष्ट होकर उसके धर्मों को दूर किया है, इसलिये यहां कहा है।

जिस समय भगवान कायिक आनन्द का दान करेंगे, उस समय बाहर भी शरीर के धर्मों को दूर करके अपना आनन्द प्रदान करेंगे।

गीतगोविन्द आदि में उसी प्रकार का गान किया है। उक्त पक्ष में भी हरि शब्द का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिये॥ ९॥

(इस प्रकार पूर्वोक्त नव कारिकाओं की भाषा, व्याख्या, टिप्पणी आदि पूर्ण हुई।)

अब मूलभागवत तामसफलप्रकरण प्रथम अध्याय २६ वें का प्रारम्भ करते हैं।

भगवान ने स्वानन्द-स्थापन के योग्य रात्रियों को देखकर रति के लिये रात्रियों में इच्छा करते हुए कारण कि उत्पन्न हुई इच्छा को ही काम कहते हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते है।—

(श्रीमद्भा०) श्रीशुक उवाच—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १॥

पदपदार्थ—(भगवान्) समग्र ऐश्वर्य १, वीर्य २, यश ३, श्री ४, ज्ञान ५, वैराग्य ६, ये छै गुण युक्त (अपि) भी (योगमायाम्) योगमाया को (उप) समीप में (आश्रितः) आश्रयकर स्थित (शरदोत्फुल्लमल्लिकाः) शरद् ऋतु द्वारा खिली हुई मल्लिकायुक्त (ताः) प्रथम वरदान में दी हुई (रात्रीः) रात्रियों को (वीक्ष्य) विशेष देखकर (रन्तुं) रमण करने के लिये (मनः) मन को (चक्रे) रचा॥ १॥

भावार्थ—भगवान् भी योगमाया के समीप में आश्रय कर शरद् ऋतु में खिली हुई मल्लिका युक्त जिन रात्रियों में स्त्रियों के लिये रमण करने को वरदान दिया था उन रात्रियों को विशेष देखकर रमण करने के लिये मन उत्पन्न किया॥ १॥

(सुबो०) प्रथमं भजनानन्दं निरूपयितुं स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय इति तासु रत्यर्थमिच्छां कृतवानित्याह भगवानपीति ।

प्रथम कारिकाओं में पांच प्रकार का रमण कहा है, उसमें प्रथम आत्मा से भगवान ने रमण किया, इस प्रकार कहा है, आत्मरमण में भजनानन्द का निरूपण करने के लिये, अपने प्रसाद युक्त स्त्रियों में अपना आनन्द-आत्मानन्द भगवान को स्थापन करना है, प्राकृत लोक में तो भोग आदि से आनन्द का लेश उत्पन्न होता है और वह भी चिरस्थायी नहीं होता है, किन्तु यहां तो स्वरूपात्मक आनन्द-रमण द्वारा व्रज सुन्दरियों में स्थापित किया जाता है, इसलिये यह स्वरूपात्मक होने के कारण नित्य-अप्राकृत ही है ।

(सुबो०) 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति या रात्रयो वरत्वेन दत्ताः, स्त्रीणां रमणार्थाः, ता रात्रीर्भगवान् परिगृह्य, सर्वास्वेव रात्रिषु ता आधिदैविकी-रारोप्य, पूर्णत्वात्तासां पूर्णिमारूपाः कृत्वा, ऋतुमपि शरदमेव कृत्वा, तस्यापि कार्यं पुष्पाण्येव कृत्वा, रसोद्दीपकत्वेन सर्वां सामग्रीं विधाय, पश्चाद्रमणार्थं स्वानन्द-प्रकाशकं कामपितामहं मन उत्पादितवान् । तत्र सर्वासु संकल्पः स्वस्मिन्नपि बोधनीयः । तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यति । ततः कामवर्णनम् । अतः प्रथमं तादृशं मनः कृतवान् । यद्यपि एतत्प्रणालिकाव्यतिरेकेणापि स्वानन्दं तत्र स्थाप-यितुं शक्तः, तथापि मर्यादा तिष्ठत्विति भगवानपि मनश्चक्रे । नन्वेवं सति स्वा-नन्दः स्थानत्यागाद् अन्यथा भवेत्, ततः स्वरूपादपि प्रच्युतः—स्यादित्याशंक्याह-योगमायामुपाश्रित इति । योगमाया हि यथास्थितमेवान्यत्र स्थापयति, यथा सङ्कर्षणम् । लीलार्थं सापि पूर्वं परिगृहीतेति नापूर्वं किञ्चित् । तथा प्रमाणे रक्षा-यां च बलभद्रोपयोगः, एवं कार्ये योगमायायाः । तत्राप्यन्तरङ्गा योगमाया, अन्यत्र स्थितं चानन्दमन्यत्र । अतः प्रमाणातिरिक्तमार्गो भक्तिमार्गश्चाग्रे विततौ भविष्यतः । याश्च रात्रयो रमणार्थमेव निर्मिताः, ता एव परिगृहीताः, अन्यथा साधारणीपरिग्रहे सर्वत्रैवानन्दः स्यात् । शरदि ऋतावुत्फुल्ला मल्लिका यासु । ता दृष्ट्वा रमणार्थं मनः कृतवान् । योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः ॥ १ ॥

कुमारिकाओं के व्रतचर्या प्रसङ्ग में गोपियों को तुम इन रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी, इस प्रकार भगवान ने वरदान दिया था । इसलिये स्त्रियों के साथ रमण करने के लिये वरदान सामयिक रात्रियों का भगवान् ने परिग्रह किया है ।

शंका—श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि ये रात्रियाँ नित्य हैं, इसलिये उन रात्रियों का दिन में भी सत्त्व होने के कारण उन रात्रियों में लौकिकी इन रात्रियों का प्राकट्य करके भगवान ने रमण किया है । अथवा लौकिकी रात्रियों में अलौकिकी रात्रियों का प्राकट्य करके भगवान् ने रमण किया है ।

इस शंका का उत्तर सुबोधिनी में इस प्रकार दिया है कि भगवान् ने सर्वरात्रियों में आधिदैविकी रात्रियों का आरोप किया है, अर्थात् उतनी ही सर्व लौकिकी रात्रियों में

अलौकिकी रात्रियों को स्थापित किया है । नहीं तो एवं शशाङ्कांशु विराजता इस श्लोक से लौकिकी रात्रियों का अतिदेश (लौकिकी रात्रियों को अलौकिकी रात्रियों में लाना) सङ्गत नहीं होता है ।

फिर दुहना, दूध गरम करना, दलिया सिद्ध करना आदि कार्य में, तथा दिन में गोचारण आदि करनेवाले गोपों को हमारी स्त्रियां हमारे पास में ही हैं यह मानना भी सङ्गत नहीं होता है, अतः लौकिकी रात्रियों में ही आधिदैविकी रात्रियों का आरोप किया है ।

ये रात्रियां रसशास्त्र में कहीं सर्वकलापूर्ण हैं, इसलिये रात्रियों को पूर्णिमारूप भगवान् ने किया है । कारण कि सकल कलापूर्ण भगवन्मन सम्बन्धी चन्द्रमा भी सदा पूर्ण है, उसका भी रात्रियों में प्राकट्य करना है, इसलिये भगवान् ने पूर्णिमारूप रात्रियों को किया है ।

लौकिकी शरद् ऋतु में सदोष जल आदि के दोष दूर करनेवाले कमल आदि गुण देखने में आते हैं, इस प्रकार यह शरद् में असाधारण धर्म है ।

यहां भी रस में अनुपयुक्त वस्तु को दूर करके भगवान् में भाव पोषण करनेवाली अलौकिकी शरद् है, इसलिये भगवान् शरद् ऋतु को भी करते हुए, अर्थात् भगवान शरद् ऋतु और उसका कार्य सर्व पुष्प भी करते हुए ।

दोषयुक्तभाव वाले पुरुष स्त्रियों का भी यहां प्रवेश नहीं है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी वसन्त आदि, तथा वर्षाऋतु भगवान् ने यहां नहीं किया है, शरद् ऋतु को ही किया है, इस प्रकार यह हृदय का भाव है ।

यदि शंका करो कि आपने रात्रियों को नित्य कहा है, तो फिर रात्रियों के धर्म भी नित्य हुए, रात्रियां कालात्मक हैं, तो फिर ऋतु भी कालात्मक अवश्य होगी, फिर 'ऋतुंकृत्वा' ऋतु करके इस प्रकार विवरण में सङ्गत कैसे हो सकता है ।

यदि कहो कि जिस प्रकार भगवान् ने मन किया, उसी प्रकार शरद् ऋतु भी की है, तो फिर मन की तरह यहां ऋतु करना सुना नहीं है ।

इस शंका का उत्तर इस प्रकार है कि यहां भगवान् ने रात्रियों को देखकर मन किया, इसमें वीक्षण को मन उत्पन्न करने में हेतु कहा है, अर्थात् सर्वविषयक अपरोक्ष-प्रत्यक्ष नित्यज्ञान-वान भगवान ने नित्य रात्रियों का दर्शन किया, इसलिये दर्शन को भी नित्यता है, जब कि दर्शन को नित्यता है, तो फिर उसके कार्य को भी नित्यता होगी, इसलिये इस आपत्ति के समाधान करने के लिये भगवान् के वीक्षण में पूर्व से विशेष कहना चाहिये ।

'वीक्षणहेतवो विशेषाः परिगृह्य' वीक्षण हेतु विशेषों का ग्रहण करके, वह विशेष विषयरूप ही कहना युक्त है, विषय विशेषण का अंश ही है ।

प्रथम विषय को प्रकट करके भगवान् रसोद्दीपक सर्वसामग्री करते हुए, इसलिये ही आचार्यों ने 'कृत्वा' करके, पद कहा है ।

यद्यपि विशेषण को भी नित्य होने से पूर्व कहा दोष दूर नहीं होता है, तथापि भक्तों को भी दर्शनयोग्यता, सामग्री सम्पादन में भगवान ने संपन्न की है, इस हेतु से दोष दूर होता है, यही अर्थ मूल में विवक्षित है, कारण कि यहां नायक भाव से ईक्षण ही विशेष है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

अर्थात् मूल में 'रन्तुं मनश्चक्रे' रमण करने को मन किया, इस प्रकार कहने से नायक का भाव बोधन किया है । 'वीक्ष्य' इसमें 'वि' उपसर्ग से नायकभावपूर्वक ईक्षण ही आता है, अतः यहां विशेष है, वह विशेष भगवदीय होने से निरर्थक नहीं है, इसलिये अपना कार्य संपादन करने

के लिये रति विषयों में भी अपने उपयुक्त सामग्री को भी दर्शन गोचर कराता है, अतः 'वि' पद ही इसमें उक्त अर्थ का बोधक है।

यदि कहो कि वीक्षण तो इसी समय किया है, इसलिये नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि वास्तव में तो तत्तत्क्षण-रात्रि सम्बन्धिनी लीला नित्य ही कही जाती है, अर्थात् लीलाओं के नित्य परिच्छिन्न अथवा क्षणों के नित्य परिच्छिन्न होने के कारण चक्र की तरह लीलाओं का जाना आना होता है, इसलिये नित्य कहना युक्त ही है।

यहां पर तो दिङ्मात्र दिखाया है, विशेष जिज्ञासु इस विषय को निबन्ध, विद्वन्मण्डन, आदि में सत्कार्यवाद का जहां पर स्थापन किया है, वहां पर विस्तार से देख लें।

इस प्रकार भगवान ने रस का उद्दीपन करनेवाली सर्वसामग्री उत्पन्न करके पश्चात् रमण करने के लिये स्वानन्दप्रकाशक कामपितामह मन को उत्पन्न किया, अर्थात् रमण करने के लिये मन किया।

रमण कामसाध्य है, और काम संकल्पजन्य है, इसलिये यहां कामपितामह मन को कहा है।

भगवान में विद्यमान व्रज की स्त्रियों के साथ रमण करने का संकल्प है, इसलिये उस संकल्प का सर्व व्रज की स्त्रियों को बोध करना है, इसमें वेणु भी सहायता करेगा।

यहां मन को करणता है, नाद व्यापार है, और वेणु सहकारिता से सहायक है, आगे 'वामदृशां मनोहरम्' भगवान का वेणु द्वारा गान मन का हरण करता है, वेणुगान द्वारा भगवान् ने अपने संकल्प का बोध किया है, उस समय व्रजभक्तों को भी संकल्प उत्पन्न हुआ है।

केवल गान का शब्द उतनी दूर तक नहीं जाता है, इसलिये वेणु को सहायक कहा है, वेणु द्वारा दूर तक गान पहुँच गया है।

इसके अनन्तर 'अनङ्गवर्धनम्' इस पद से गीत में स्थित काम का वर्णन है, इसलिये भगवान् ने प्रथम रमण करने के लिये कामपितामह मन किया है।

यद्यपि उक्त क्रम के बिना भी अपना आनन्द व्रजभक्तों में स्थापन करने का भगवान् में सामर्थ्य है, तथापि रस की मर्यादा रहे, भंग न हो, इस हेतु से 'भगवान भी' षडैश्वर्य युक्त 'कर्तुम् अकर्तुं अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवान् भी' मन करते हुए।

यदि कोई शंका करे कि व्रजभक्तों में भगवान ने रमण द्वारा अपना आनन्द स्थापन किया है, तो फिर स्वानन्द-आत्मानन्द का अपने स्थान से त्याग होने पर, अर्थात् स्वरूप आनन्द का आधार है, जिस प्रकार देह हाथ पांव आदि का रहने का स्थान है, उसी प्रकार भगवान का स्वरूप आनन्द के रहने का स्थान है, उसके त्याग से आनन्द जीव धर्म वाला हो जायगा, तो फिर स्वरूप से भी प्रच्युत हो जायगा, सारांश यह है कि अन्यत्र जाने पर आनन्द पुरुषोत्तम का नहीं रहेगा। (यहां स्वशब्द से धर्मरूप आनन्द का निषेध किया है, धर्मी पुरुषोत्तम का आनन्द कहा है)।

उक्त शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'योगमायामुपाश्रितः' योगमाया यथास्थित-ज्यों का त्यों ही अन्यत्र स्थापन करती है, जिस प्रकार सङ्कर्षण को यथास्थित नन्दालय में रोहिणी जी के उदर में स्थापन किया, उसी प्रकार भगवान् ने गोपियों में अपना आनन्द स्थापन किया है।

लीला के लिये योगमाया का भी प्रथम परिग्रह किया है। अतः अपूर्व कोई वस्तु नहीं है, 'यथा प्रमाणे बलभद्रोपयोगः'।

यहां प्रमाण शब्द में निमित्त सप्तमी है, इसलिये इसका अर्थ, जिस प्रकार प्रमाण सम्बन्धी कार्य में विरोध दूर करने के लिए बलभद्र जी का उपयोग है, भगवान् ने वत्सासुर का वध किया, इसका वध वेद विरुद्ध है, इसलिये वेदरूप बलदेव जी के लिये भगवान् ने सम्मति लेने के लिये दिखाया था, तथा रक्षा में भी बलदेव जी का उपयोग है, अर्थात् प्रतिबन्ध रहित रस की रक्षा के लिये भी बलभद्र का उपयोग है। उसी प्रकार भजनानन्द दान लक्षण कार्य में योगमाया का उपयोग है। उसमें भी यह स्वरूपानन्द की प्राप्ति में विरोध को दूर करनेवाली अन्तरङ्गा योगमाया है 'अन्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयति' अर्थात् वेदात्मा संकर्षण देवकी जी में जो स्थित हैं उनको रोहिणी जी में योजन-स्थित करती है। योगमाया योजन-जिस प्रकार युक्त होता है, उसी प्रकार स्थापन करती हुई। तथा स्वयं प्रकट हो मथुरा में स्थित आनन्दरूप प्रभु को गोकुल में, तथा यहां भी प्रथम गोपों के घरों में स्थित ऋचाओं को भगवान् में योजन करती है, और भगवान् में स्थित आनन्द को व्रजभक्तों में योजन करती है।

यहां पर किसी का कहना है कि आनन्द सुखरूप होने से अमूर्त-आकार रहित है, अतः उसका अन्यत्र गमन असंभव है, प्रियसङ्ग से स्वामिनियों में सुखविशेष उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कहना उचित है, योगमायाश्रयण से कहना ठीक नहीं है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' 'आनन्दमयोऽभ्यासात्, इत्यादि धर्मिग्राहक प्रमाणभूत श्रुति न्याय द्वारा आनन्दमयत्व भगवान् के स्वरूप में विना इच्छा के भी आपको मानना ही पड़ेगा।

इसी प्रकार चिद्रूप को धर्मरूप, भगशब्द का अर्थ ज्ञानरूपत्व की तरह 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' इस न्याय से धर्मरूपता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, एवं 'तदेजति' इस श्रुति में भगवान् का गतिरूपत्व भी स्वीकार करना चाहिये।

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय हैं, इसी से व्यापक होने पर भी गतिलीला दामोदर लीला की तरह युक्त होती है। अर्थात् धर्मरूपता, गतिरूपता और विरुद्ध धर्माश्रयत्व, ये भगवान् में प्रामाणिक हैं। इसलिये आनन्द को भी मूर्तत्व-आकारत्व संघटित होता है।

धर्म धर्मी विचार में अन्यत्र गति भी घटित होती है।

भगवान् का सामर्थ्य भी धर्मरूप है, इसलिये योगमाया के श्रयण में भी दोष नहीं है।

यदि कहो कि यहां भगवान् की पुष्टि लीला है और समाधान मर्यादा से करते हो, यह बात ठीक नहीं है।

इस प्रकार उक्त अरुचि के कारण पुष्टि रीति से समाधान करते हैं कि, वास्तव में तो भगवान स्वरूप मर्यादा का भी अतिक्रमण करके भक्तों के लिये लीला करते हैं, इसलिये कोई अयुक्ति नहीं है, अमूर्त होने पर भी गति में युक्ति है।

भगवान स्वरूप मर्यादा का अतिक्रमण करते हैं, इसमें प्रमाण निरूपण करते हैं कि 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इस श्रुति में सर्वात्मभाव लक्षण स्थायीभाव रस है, इस प्रकार यह रस पद का अर्थ कहा है, उस रस को प्राप्त करके आनन्दवान होता है, अर्थात् इस प्रकार के भक्त को प्रभु स्वरूपानन्द का दान करते हैं।

इस प्रकार प्रतिपादन से सिद्ध होता है कि भगवान का दिया ही रस प्राप्त होता है अन्यथा नहीं प्राप्त होता है, उक्त श्रुति में 'एव' कार सर्वत्र ही लगता है, जिस प्रकार रस को ही सर्वात्मभाव को ही प्राप्त करके आनन्दी ही होता है, लौकिक दुःखी नहीं प्राप्त होता है, यह अर्थ है।

महाप्रभु कहते हैं कि रस पद का अर्थ टिप्पणी में सर्वात्मभाव लक्षण स्थायीभाव कहा है, इसका यह भाव है कि छान्दोग्य में 'भूमा कस्मिन् प्रतिष्ठितः' भूमा किसमें स्थित है, इस प्रकार प्रश्न करने पर 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है; उत्तर दिया है। अर्थात् स्वरूपभूत सर्वात्मभाव लक्षण महिमा में प्रतिष्ठित है। योगमाया सर्वात्मभाव का उद्बोधन करती है—सर्वात्मभाव को जागृत करती है, तब भक्त आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है।

आनन्द स्वरूपभूत है, अतः स्थानत्याग शंका नहीं है। श्रुति में 'स्वे', 'महिम्नि' दो पद कहे हैं, इसलिये आनन्द को स्वरूपत्व, तथा धर्मत्व कहा है, अतः स्वरूपत्व को लेकर, भूम प्रतिष्ठा धर्मत्व को लेकर आनन्द की भक्तों में स्थिति विरोधरहित है, अतः आनन्द स्वरूपभूत है, उसकी अन्यत्र स्थिति कैसे हो सकती है, इस शंका को अवसर ही नहीं है।

यहां पर आगे प्रमाणमार्ग से अतिरिक्त मार्ग—भक्तिमार्ग विस्तृत होगा। कारण कि योगमाया अन्यत्र स्थित प्रमाण को अन्यत्र योजन करती है।

प्रमाण शास्त्र अन्य भजन रहित विवाहित पति के भजन का विधान कर रहा है, उसकी अवहेलना करके विवाहित पति का त्यागपूर्वक भगवान् की सेवा का ही विधान भक्तिमार्ग करता है।

इस प्रकार का यह अर्थ तो स्वामिनियों के इस प्रकार के भजन से तथा भजन के फल से ज्ञात होता है।

'यामा भजन' इस वाक्य में भगवान् ने कहा है कि मैं ब्रह्मा आदि देवताओं की आयु प्राप्त करके भी तुम्हारी कृतिका बदला नहीं कर सकता हूँ, भगवान के इस प्रकार के कहने से तथा फलरूप भजन से अभी इस भक्ति का ज्ञान हुआ है, इसको मार्गत्व भी है, नहीं तो उन्मार्गत्व हो जाये, 'अस्त्वेव मेतत्' इत्यादि श्लोक में व्रजसीमन्तिनियों ने मार्गत्व प्रतिपादन किया है, ईश्वर-वाक्य समग्र प्रमाणों से अधिक बलवान् हैं, किन्तु स्वामिनियों के वाक्यों द्वारा दुर्बल हो गये, इसलिये प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग—भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग है, इस प्रकार जानना चाहिये।

अथवा प्रभु की प्राप्ति के लिये गुरु की शरण जाते हैं, और गुरु जो आज्ञा करे वही भक्तों का प्रमाणमार्ग है।

प्रकृत स्वामिनियों की प्राप्ति के लिये योगमायाश्रयण आदि प्रभु करते हैं, और करेंगे। इसलिये प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग है, कारण कि योगमाया अन्यत्र प्रतिष्ठित आनन्द को अन्यत्र योजन करती है, अतः इस भाव से भजनरूप अतितीव्र स्नेह होता है, फिर स्नेह द्वारा विरहभाव और विरहभाव से सर्वत्यागपूर्वक, तथा अपनी देह आदि की विस्मृतिपूर्वक भगवान का अन्वेषण—खोज करना भक्तिमार्ग है। यह द्वितीय, तृतीय अध्याय आदि में स्पष्ट है, इसलिये पुष्टि भक्तिमार्ग में स्वामिनी ही गुरु हैं, इस प्रकार यहां यह ज्ञापित होता है। यदि कहो कि स्वामिनियों को सौभाग्यमद हुआ, तब अन्वेषण किया था, इसलिये अन्वेषण आदि लक्षण मार्ग के गुरुओं में दोष हुआ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि स्वामिनियों को विप्रयोग भाव होने में सौभाग्यमद आदि हेतु हैं।

यदि गोपियों में सौभाग्यमद न होता तो फिर विप्रयोग भी नहीं होता, और विप्रयोग न होता तो रस पुष्ट नहीं होता। सौभाग्यमद आदि भी भगवान् के धर्म हैं, इसलिये विप्रयोग में भगवान् के धर्म का प्रवेश ही हेतु है। नहीं तो भगवान् की पादरज में प्रपन्न स्वामिनियों को

मदमान ही नहीं होते, अतः यहां मूल में प्रपत्ति मदमान के कहने से ही समाधान हो जाता है।

यदि शंका करो कि 'एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा' इस वाक्य से भगवान् का लौकिकी रात्रियों में भी रमण का बोध होता है, फिर भगवान् ने अलौकिकी रात्रियों का परिग्रह करके गौरव विशेष क्यों किया। इस प्रकार शंका करके लौकिकी रात्रियों का भी स्वरूप बतलाते हैं, 'याश्च रात्रयः'।

जो रात्रियां भगवान् ने रमण के लिये निर्माण कीं, अर्थात् सर्ग के आदि में ही रमणार्थ रची थीं, वे कुछ रात्रियां भगवान् में ही इतने कालपर्यन्त स्थित रहीं, भगवान् ने उन रात्रियों को लीला करने के समय में लौकिक रात्रियों में स्थापन करके लीला की है, यह बात निर्मित पद सूचन करता है। लौकिक चन्द्रमा का भी प्रकाश था, इसलिये गीतगोविन्द आदि में कहे प्रकार के अनुसार लौकिक रीति से भी रमण किया है, इसलिये इन रात्रियों को लौकिकी कहा है।

अलौकिक रात्रियों में विवक्षित भगवान का मन चन्द्र के प्रकाश में नायक को मान कहा है, फिर नायिका द्वारा प्रणिपात कहा है, फिर उक्त मान का नायिका में अन्तर्धान, फिर नायिका में दैन्य कहा है, दैन्य से भगवान का आविर्भाव हुआ है, और गोपियां भगवान के अधीन हो गईं, फिर प्रश्नोत्तर में भगवान ने परोक्ष भजन कहा है, फिर पूर्व अनुभव होने पर भी प्रत्यक्ष का बाध हुआ है। इस प्रकार भजन का अनुभव और भगवद्वाक्य का विश्वास कहा, अनन्तर भगवद्विचारित आनुपूर्वी क्रम से स्वरजातिका उन्नयन आदि करके, अलौकिक रीति से ही भगवान ने अलौकिक रस दान दिया है, इसलिये यहां लौकिक से विलक्षणत्व स्पष्ट है, तथा स्वरूप से ही अलौकिकत्व है। यह विवेक है, अतः भगवान् ने रमण करने के लिये निर्मित रात्रियों का ही परिग्रह किया है।

'अन्यथा साधारणीपरिग्रहे' यदि भगवान् साधारणी रात्रियों का जिनमें बाल लीला आदि की थी, उनका स्वीकार करते तो सर्वत्र गाय गोप आदि में भी आनन्द प्रकट हो जाता, अर्थात् साधारण रात्रियों में रासलीला होनेपर सर्वदेश में सर्वको आनन्द का अनुभव होता, कारण कि रात्रियां सर्वत्र एक-सी हैं।

जिस प्रकार साधारण काल में सूर्य चन्द्रमा के सम्बन्ध से सर्वत्र प्रकाश आनन्द आदि होता है, उसी प्रकार यहाँ भी साधारणी रात्रियों में लीला संबंध होने पर सर्वत्र आनन्द हो जाता।

भगवान् ने रमण करने के लिये मन मल्लिका पुष्पों से प्रफुल्लित शरद् ऋतु की रात्रियों को देखकर किया है।

यदि कहो कि भगवान सर्वज्ञ हैं, इसलिये रमणकाल में भी लौकिक रात्रियों में विद्यमान अलौकिक रात्रियों का दर्शन भी होता ही है, फिर इस समय देखने में क्या विशेषता है।

इसका उत्तर कहते हैं 'शरदि ऋतौ' शरद् ऋतु में विशिष्ट दर्शन ही विशेष है।

यदि कहो कि विशेषण-शरद् ऋतु भी तो नित्य ही है, फिर विशेष नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि आपका कहना युक्त है, किन्तु जिस प्रकार की लीला का वर्णन किया जाता है, उस प्रकार की ही लीला नित्य होने से, इसी समय ही विशेषण वैशिष्ट्य है। अतः कहने पर भी दोष नहीं है। यह सब प्रकार विद्वन्मण्डन में कहा है।

ईश्वर के लिये अन्याश्रयण लौकिकी रीति है, इसलिये लौकिकी रीति कहने से यहाँ लौकिक रीति से भी भगवान का रमण सूचित होता है।

रमण समय में मध्यस्थ रूप से योगमाया का विशेष करके उपयोग है। अतः इस हेतु से योगमाया का आश्रयण कहा है।

किसी अर्थ के साधन करने में जब अपनी अशक्यता होती है, तब दूसरे का आश्रय किया जाता है, सर्वसमर्थ भगवान को भी अपना आनन्द गोपियों को देने के समय ईश्वरत्व आदि धर्मों, का अज्ञान संपादन करने के लिये रस के परवश होकर नहीं करने का सामर्थ्य, सूचित करते तथा गोपों को इस लीला विषयक अज्ञान संपादन करने के लिये, तथा गोपियों के आगमन काल में गोपों ने भगवान के पास जाने का निषेध किया, इससे निषेध का अज्ञान आदि कार्य की सिद्धि के लिये योगमाया का आश्रयण अलौकिक रीति से रमण करने में भी जानना चाहिये। इसीसे 'मोहितास्तस्य मायया', 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' भगवान की माया से मोहित गोपों ने अपने पास ही गोपियों को माना, यह प्रकार आगे कहेंगे।

रस के उपयोगी जो जो कार्य हैं, उनमें तत्तत्समय में भगवान के तत्तत्कार्य के संपादन करने का सामर्थ्य, योगमाया में है। सामर्थ्य धर्मरूप है, अतः योगमाया के श्रयण में भगवान को किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसीलिये भगवान ने अपने निकट ही मूर्तिमती योग-माया को बैठाया है, इस बात का ज्ञापन 'उप' उपसर्ग कर रहा है।

आचार्यों ने भी सुबोधिनी में कहा है कि 'योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः' योगमाया भगवान के समीप ही आश्रय करके स्थित हो गई॥ १ ॥

(सुबो०) नूतने तस्मिन् मनसि देवता नास्तीति, अनधिष्ठितं च कार्यं न साधयिष्यतीति तदधिष्ठातृदैवं चन्द्रं च ससृज इत्याह–तदोडुराज इति।

प्रथम श्लोक में कहा है कि भगवान ने समीप में मूर्तिमती योगमाया का स्थापन किया। योगमाया को समीप में बैठा लेने से ज्ञात होता है कि ईश्वरत्व मर्यादा का उल्लंघन करके भगवान् इस समय प्रवृत्त हैं, यदि ईश्वरमर्यादा का अतिक्रमण भगवान नहीं करते हैं तो रस मर्यादा का उन्मूलन होता है, अतः रसमर्यादा का पालन करने के लिये ईश्वरमर्यादा का उल्लंघन किया है। कारण कि भगवान सर्वविकाररहित हैं, किन्तु जबतक सर्वविकाररहित रहे तबतक इस प्रकार का भगवान का मन नहीं हुआ था, जिस समय भगवान को रमण करने की इच्छा हुई, उसी समय नूतन मन शीघ्र प्रकट हो गया।

लौकिकी रीति के अनुसार मन का देवता भी होता है, इस नूतन मन में देवता नहीं है, यद्यपि भगवान् का मन आधिदैविक है, इसलिये इसमें देवता की अपेक्षा नहीं है, तथापि इस नूतन मन में देवता की भी अपेक्षा है, कारण कि लोक में देवता अधिष्ठित ही मन कार्यक्षम होता है, अनधिष्ठित कार्यसाधन नहीं करता है, देवता नियामक होता है, देवता के न होने से जैसे सामर्थ्य की अपेक्षा होती है, वैसा सामर्थ्य नहीं होता है, तो फिर अल्प सामर्थ्य से रस पहिले की तरह हो जायगा, सदा रसकी एक परवशता नहीं होगी, इसीसे 'आत्त गजेन्द्र लीलः' आगे कहेंगे। गजेन्द्र लीला में हथिनी के वश हो जाता है, यह बात प्रसिद्ध है।

परवश हो जाना युक्त भी है। विभावादि के विना रस पुष्ट नहीं होता है।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस प्रकार वात्स्यायन सूत्र में कहा है।

यदि कहो कि उक्त प्रकार से रस को जागृत करने से रस को जन्यता होगी, और जन्यता के कारण फिर रस को भगवद्रूपता नहीं रहेगी।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि वास्तव में तो 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियों से प्रभु रस-रूप हैं, इसलिये रस जिस प्रकार रसशास्त्र से सिद्ध है, उसी प्रकार रस का निरूपण किया जाता है, अर्थात् श्रुति द्वारा रसको भगवद्रूपता निश्चित की है।

जिस प्रकार यज्ञात्मक भगवान् अस्मद् चेष्टाक्रिया द्वारा प्रकट होता है, उसी प्रकार रसात्मक भगवान् रसप्रणाली द्वारा लोक में व्यंजित होता है। अतः कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार के रस को भी नित्यता है। इसका विद्वन्मंडन में भलीभांति से प्रतिपादन किया है, भगवान ने नूतन मन और मन का अधिष्ठाता देवता चन्द्रमा भी रचा है, इसको आगे श्लोक में शुकदेव जी कहते हैं।

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

पदपदार्थ—(यदैव) जिस समय भगवान ने रमण के लिये मन किया (तदैव) उसी समय ही (उडुराजः) नक्षत्रों का राजा (उदगात्) उदित हुआ (प्राच्याः) पूरब (ककुभः) दिशा के (मुखं) मुख को (शन्तमैः) शीतलसुखद (करैः) किरणों द्वारा (अरुणेन) लाल रंग से (विलिम्पन्) रँगता (सः) वह चन्द्र ('चर्षणीनाम्) परिभ्रमण शक्तियों के (शुचः) दुःख को (हरन्) दूर करता (दीर्घदर्शनः) अधिक समय में देखा है (प्रियः) पति (प्रियाया इव) प्रिया की तरह–अर्थात् जिस प्रकार बहुत समय में विदेश से आया पति अपनी प्यारी स्त्री का मुख रंजित करता है, उसी प्रकार चन्द्रमा करता हुआ उदित हुआ ॥ २ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार अधिक समय के पश्चात् घर आया प्रिय–पति अपनी प्यारी स्त्री का हस्त से मुख रंजित करता है, उसी प्रकार पूरब दिशा का मुख शीतल सुखद अरुण किरणों द्वारा रँगता तथा चर्षणियों का दुःख दूर करता नक्षत्रराज चन्द्रमा उदय हुआ ॥ २ ॥

(सुबो.) यदैव मनः कृतवान्, तदैव तस्याधिदैवतमुडुराज उदगात्, उदितो जातः। यद्यप्येकदा रात्रयो दृष्टाः, तथापि क्रमेणैव तासां स्थितिः।

भगवन्मनश्चन्द्रस्याधिदैविकत्वात् पूर्ण एव सः, निष्कलङ्कश्च। मनस्येवाविर्भूते तस्याविर्भावः, क्रीडायामुपरतायामुपरतिः, मध्याकाशपर्यन्तमेव गमनम्, नास्तमयः कदाचिदपि। सोऽपि चन्द्रः, स्त्रीणां मनांसि उडुस्थानानीति तेषामपि रक्षकः। इदं प्रथमतया जात इति पूर्वस्यामेव दिशि तस्योदय उच्यते। 'सा दिग्देवाना' मिति। तस्या दिश इन्दो देवता अधिपतिश्च। इदानीं भगवानेवेन्द्र इति तस्य रेतोरूपः तस्यामुद्गतः। अतः प्राच्याः ककुभः मुखं मध्यभागं स्वकरैः स्वकिरणैः विलिम्पन् उदगात्। तस्या मुखे न रागः स्थितः, प्रतिस्पर्धिन्यां सूर्यसम्बन्धेन रागसंभवात्, अतः अस्या अपि मुखं कुङ्कुमसदृशैः करैरारक्तं क्रियते। यदि चन्द्रः स्वदिशो मुखं न रञ्जयेत्, तदा भगवन्मनोऽपि स्त्रीणां हृदयं न रञ्जयेत्। करा: शन्तमाः, शीतलत्वात् तापहारकाः। किञ्च, अरुणेन गुणेन कृत्वा अत्यन्तं कल्याणरूपाः। अरुणो हि रागप्रधानः। पुरुषोऽपि यद्यनुरागेण स्पृशति, तदा सुखं

भवति । ननु अस्य चन्द्रस्य यदि अधिष्ठातृत्वमात्रम् , तदा मनस्येव उदयो भवेत्, यद्यन्धकारनिवृत्तिः प्रयोजनम्, तदा भगवतैव अन्धकारो निवर्तेत, यदि वा उद्दीपकत्वम्, तदापि भगवतैव तत्संभवः, अतोऽस्यासाधारणं कार्यं वक्तव्यमिति चेत्, अत आह स चर्षणीनां शुचो हरन्निति । चर्षण्यः सर्वत्र परिभ्रमणशक्तयः । ताः सर्वत्र परिभ्रान्ता अपि न क्वापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः । यदिवा कश्चिन्मुच्येत, तथापि ता न प्रवेशं लभन्ते । ततः पूर्वमेव ता निवृत्ता भवन्ति । अतस्तासां शोकस्तिष्ठत्येव । चर्षणीसहितानां जीवानां वा । तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः । शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात् । प्रायेण तदानीन्तना जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः । तस्मिन्नुदिते परमानंदानुभवोऽवश्यं भावीति । तथा सति प्रयोजनत्रयम्, दिग्देवताया मुखसंमार्जनं, चर्षणीनां शोकदूरीकरणं, अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च । कण्ठोक्तं द्वयमपि तदेकसाध्यमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह—प्रियः प्रियाया इति । दीर्घकाले दर्शनं यस्य । महता कालेनागतो भर्ता प्रियः प्रियायाः पतिव्रतायाः शोकं दूरीकृत्य मुखसम्मार्जनं च करोति । न चैतत्कार्यमन्यथा सिध्यति ॥ २ ॥

मूल में चन्द्रमा का उदय भगवान ने किया कहा है, सृष्टि करना विरुद्ध मालूम होता है। इसका उत्तर सुबोधिनी में कहते हैं कि 'यदैव मनः कृतवान् तदैव तस्याधिदैवतमुडुराज उदगात्' जिस समय भगवान ने मन किया, उसी समय मन का अधिदैवत उडुराज का उत्पादन किया, इस प्रकार मूल का अर्थ विवक्षित है, नहीं तो 'तदैव' उसी समय शब्द नहीं कहते। चन्द्रमा भी उदित हुआ, इस प्रकार कहते । और आगे के श्लोक में चन्द्रदर्शन कहा है, इसलिये अन्यथा उपपत्ति से चन्द्रोदय की प्राप्ति हो जाती है, फिर यह श्लोक व्यर्थ हो जाता है ।

भगवान की चिकीर्षित लीला लोकवेद में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये अपूर्व है—पहिले नहीं हुई है । अतः भगवान ने लीला सामग्री भी अपूर्व ही सम्पादन की है, इस बात को ज्ञापन करने के लिए 'तदा' पद कहकर चन्द्रोदय का वर्णन किया है, इस प्रकार ज्ञात होता है, इसी से 'भगवन्मनश्चन्द्रस्य' यहां से लेकर 'कदाचिदपि' यहां तक ग्रन्थ युक्त होता है, नहीं तो मूल में तो पूर्णत्वादिधर्म भी नहीं कहे, तो फिर आचार्य भी नहीं कहते । अतएव पूर्व श्लोक में 'चक्रे' इस पद से भगवान ने मन किया है, इस प्रकार कहा है ।

क्रीडा में मन ही मुख्य होता है, मन के नूतन करने से ही सर्व सामग्री के नूतन होने का ज्ञान हो जायगा, इस अभिप्राय से तादृश चन्द्रमा प्रभु ने रचा है । इसी हेतु से श्री शुकदेवजी ने आगे चन्द्रोदय कहा है ।

यदि कहो कि एक समय में देखी बहुत-सी रात्रियों में एक चन्द्रमा की स्थिति किस प्रकार युक्त हो सकती है ।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि एक समय में भगवान ने बहुत-सी रात्रियां देखी हैं, तथापि क्रम से ही रात्रियों की स्थिति है, नहीं तो 'रजन्येषा' यह रजनी है, इस प्रकार प्रभु नहीं कहते ।

यदि कहो कि इस रात्रि को नित्यता है, इस प्रकार कहने से एक ही रात्रि से काम चल जाता, क्रीडा हो सकती थी, फिर भगवान ने बहुत-सी रात्रियों का परिग्रहण क्यों किया है ।

इसका उत्तर यह है कि नायिका विशेषों में प्रतिपदादि तिथियां बन्धादि विशेषों द्वारा रस उत्पन्न करने में नियत हैं, अर्थात् तत्तद् नायिकाओं में प्रतिपदा आदि तिथियों में ही बन्धादि द्वारा रस की उत्पत्ति नियत है । इस प्रकार वात्स्यायन सूत्र से सिद्ध होता है, इसलिये रस की उत्पत्ति करने के लिये बहुत रात्रियों का परिग्रहण किया है ।

भगवन्मन चन्द्रमा आधिदैविक है, इसलिए वह चन्द्रमा पूर्ण ही, और निष्कलङ्क है, अतः षड्धर्म वाले आधिभौतिक चन्द्र से विलक्षण है ।

यहाँ पर स्वतन्त्र लेख के अनुसार निष्कर्ष यह समझना चाहिये कि इस लीला में सर्वसामग्री रसात्मिका है, और वह रसलीला मात्र में उपयोगी है, कारण कि रसात्मक भगवान के स्वरूप से प्रकट हुई है । साधारण जगत के कारणरूप से नहीं हुई है, इस बात का बोधन करने के लिए मन से लेकर चन्द्र पर्यन्त समस्त रसोद्दीपक पदार्थों का इसी समय अपूर्व प्रादुर्भाव हुआ है ।

चन्द्रमा भी पूर्ण हुआ है, भगवान का भी मन प्रथम सर्वविषयक था, इसलिए अपूर्ण ही था, किन्तु इस समय पूर्ण ही हो गया है; कारण कि इस समय भगवान का मन केवल स्वामिनी-विषयक है, अतः अंश से भी अन्यत्र नहीं है । इसीसे 'नाहं तेभ्यो मनागपि' इत्यादि वाक्य हैं ।

चन्द्रमा भी भगवान का रेत—वीर्य रूप है, इसलिये मन को शक्ति देने वाला, और मन का अधिष्ठान रूप केवल इस लीला मात्र में उपयोग के लिये प्रकट हुआ है, कभी भी अन्य विषयक नहीं होता है ।

लौकिक चन्द्रमा आधिभौतिक विराट्रूप भगवान का मनरूप भी सर्वविषयक है, इसलिये भगवन्मनचन्द्र सदृश नहीं है, विलक्षण है, विलक्षणता यह है कि जिस प्रकार लौकिक चंद्र को व्यभिचार के कारण दक्ष ने शाप दिया, सर्वलोक में अपकीर्ति के कारण कलङ्कयुक्त है, उसी प्रकार भगवन्मनचन्द्र रसिकजनों से निरूपण करने योग्य रसासक्ति विरह से उत्पन्न, अपकीर्तिरहित के कारण कलङ्करहित है । मन का आविर्भाव होने पर इस चन्द्रमा का भी आविर्भाव होता है ।

जिस प्रकार लौकिक चन्द्र का काल के अधीन आविर्भाव है, और अपने काल में ही उदय होता है, उसी प्रकार अलौकिक चन्द्र का काल के अधीन उदय नहीं है, जिस समय भगवान का मन होता है, उसी समय चन्द्र का भी उदय होता है, कि बहुना लीला सामग्री मात्र की ही यही व्यवस्था है । इसलिये नित्य है, और कालत्रय की सत्ता रहित है ।

भगवान के स्वरूप में ही रहने के कारण स्वरूप की तरह सर्वसामग्री नित्य है, जिस प्रकार का स्वरूप भक्तों में होता है, उसी प्रकार की लीला और सामग्री सर्व उनमें जाननी चाहिये । इस प्रकार की स्थिति में विलक्षणता है । इस प्रकार उत्पत्ति स्थिति को विलक्षण कहकर लीला के उपराम से भी विलक्षण कहते हैं ।

यदि कहो कि व्रजभक्तों को महाफल मिला है, फिर भगवान की आज्ञा से 'वासुदेवानुमोदिताः' इस वाक्य से यद्यपि गोपियों की घर जाने की इच्छा नहीं थी, तथापि भगवान की आज्ञा से घर आते समय क्रीडा का उपराम दिन में हुआ है, फिर काल की अधीनता क्यों नहीं है, यह तो अधीनता ही हुई, तो फिर नित्यता भी कैसे हुई ।

इसका उत्तर 'क्रीडायामुपरतायामुपरतिः' है, भगवान की लीला का उपराम होने पर दिन में गुणगान द्वारा आन्तर रमण करने के लिये, अर्थात् लीला उप-समीप में जब अन्तःप्रविष्ट हो जाती है, तब चन्द्रमा भी लीला सम्बन्धी है, इसलिये चंद्र का भी अन्तःप्रवेश हो जाता है, उपरति हो जाती है।

इससे यह सूचन किया है कि भगवान जब बाहर पधारते हैं तब लीला और लीला सम्बन्धी सर्व पदार्थ भी बाहर प्रकट होते हैं, इसमें आविर्भाव और तिरोभाव ही लीला आदि के नित्यत्व में निर्वाहक हैं।

विद्वन्मण्डन में प्रभुचरण ने कहा कि बाहर क्रीडा की उपरति-विराम होने में शृंगार के उत्तर दल रस का दान देने की भगवान की इच्छा ही कारण है, इस प्रकार जानना चाहिये। इस प्रकार उपरति का कारण विलक्षण होने से भी विलक्षणता कही है।

इस चन्द्र का मध्य आकाश पर्यन्त ही गमन है 'नास्तमयः कदाचिदपि' यह चन्द्र कभी अस्त नहीं होता है, यद्यपि बाहर अदृश्य होने पर अस्त मालूम पड़ता है, तथापि जिनको दृश्य है, उनको तो भगवान की इच्छा से दृश्य ही है, बहिर्दृष्टि में अथवा बहिर्दृष्टि होने से औरों को तो सर्वदा ही अदृश्य है, इसलिए लौकिक चंद्र की तरह—जिस प्रकार लौकिक चन्द्र दीखता है और अस्त होता है, उस प्रकार यह अलौकिक चन्द्र का अदृश्य रूप अस्तमय न होने से अभी भी अस्तमय नहीं है, इसलिये यहां यह भी सूचन किया है कि भगवान का मन और मन से उत्पन्न भाव वीर्य-रूप चन्द्र विषयक है, इसलिये व्रजेन्द्रदिशा में स्थित स्वामिनियों में ही इस चन्द्र का उदय है। फिर क्रम से व्रजभक्तों को भगवान के निकट आने पर चन्द्र का भी आगमन हुआ है, और भगवान के साथ मिलकर रहने वाले व्रजभक्तों के मध्याकाश में ही इसकी स्थिति है। उसमें भी रस को स्थिर करने के लिए ऊपर देश में ही इसकी स्थिति है।

अनन्तर आन्तर रमण करने के लिये व्रजभक्तों में भगवान का प्रवेश होने पर चन्द्रमा का भी प्रवेश है, अन्य दिशा में इसकी गति नहीं है।

जिस प्रकार लीला मात्र उपयोगिनी श्रीमद्यमुना जी की लीला स्थल में ही स्थिति है, उसी प्रकार चन्द्रमा की भी स्थिति है।

यहां पर आकाश तो रसात्मक लीला का आश्रयभूत है, स्वामिनियों का हृदय आकाश है, उसमें चन्द्र मन और नक्षत्र की स्थिति है। वह स्वामिनियों का हृदयाकाश लीला जब बाहर प्रकट होती है, तब बाहर होता है और लीला अन्तःस्थित होने पर भीतर हो जाता है, अतः इसी में मन नक्षत्राधिपति भगवन्मनचन्द्र का आविर्भाव होता है।

मूल में उडुराज कहा है, रात्रियां अलौकिक हैं, और चन्द्र भी अलौकिक है, इसलिए प्राकृत नक्षत्रों की रक्षा तो संभव हो नहीं सकती है, तथा अलौकिक रात्रि को प्रकाश करने वाले नक्षत्रों की भी प्रसिद्धि नहीं है, फिर जो यहां 'उडु' पद का उपादान किया है, इसका आशय यह है कि इन अलौकिक रात्रियों में प्रकाश करने वाले स्वामिनियों के मन ही यहां 'उडु' नक्षत्र अभिमत हैं। इसी बात को आगे कहते हैं (सोपिचन्द्रः) इत्यादि। चन्द्रमा नक्षत्रों का सजातीय है, नक्षत्राणामहं शशी' इस वाक्य से सिद्ध है। स्त्रियों के मन 'उडु' नक्षत्र स्थानीय हैं, मन भगवान सम्बन्धी है, अर्थात् भगवान के मन का अंश है। भगवान ने अपना मन प्रवृत्ति निवृत्ति तोषादि कार्य के लिए आविर्भावित किया है, इसलिये जिस प्रकार नक्षत्र रात्रियों में ही प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार व्रजभक्तों के मन अलौकिक इन रात्रियों में ही प्रकाशमान हैं, इसलिए 'तेषामपि-

रक्षकः' यह चन्द्र भगवान के मन का देवता है, इसलिये व्रजभक्तों के मन की रक्षा करने वाला है।

यह मन प्रथम ही हुआ है, इसलिये पूरब दिशा में चन्द्रोदय कहा है। अर्थात् चन्द्रमा इस लीला के लिये उत्पन्न हुआ है, (सचर्षणी स्थान नन्दग्राम से पूरब दिशा में लीलास्थल वृन्दावन है) इसलिये पूरब दिशा में ही उसका उदय हुआ है, कारण कि 'सा दिग्देवानाम्' पूरब दिशा देवताओं की है, और पूरब दिशा में लीला के उपयोगी पदार्थ स्थित हैं।

रमण का निश्चय वृन्दावन में होने के कारण व्रजभक्तों के मन इसी दिशा में स्थित हैं, इसलिये व्रजभक्तों के मन रूप नक्षत्रों का राजा भी पूरब दिशा में उदित हुआ है।

अब मिश्रित मिला अर्थ कहते हैं कि पूरब दिशा का देवता तथा अधिपति इन्द्र है, इस समय भगवान ही इन्द्र हैं, इस कारण से भगवान का रेतरूप-वीर्य रूप चन्द्र पूरब दिशा में उद्गत हुआ है, अर्थात् पूरब दिशा के अधिपति इन्द्र को जीतकर श्री गोवर्द्धनोद्धरण स्वयं इन्द्र द्वारा अभिषिक्त हो इन्द्र हुए हैं।

इन्द्र देवताओं का ही होता है, मनुष्यों का नहीं होता है, 'यथेन्द्रो देवानाम्' इस श्रुतिवाक्य से, व्रजवासी देवता हुए हैं, अतः 'सा दिग्देवानाम्' अतः पूरब दिशा व्रजवासी जगत्पूज्य, अलौकिक अखिल फलसाधक भगवान के पक्षपतियों की है, इसलिये उस दिशा के इन्द्र भगवान ही देवता पूज्य अधिपति भोक्ता हैं। कारण कि इस समय यथाधिकार कार्य करने से 'रन्तुं मनश्चक्रे' इस वाक्य से भोक्ता हैं, इसलिये भगवान ने रमण सम्बन्धिनी दिशा में भी अपना रेत रूप अलौकिक गूढभाव का उत्पन्न करनेवाला चन्द्र प्रकट किया है, उस रमण दिशा सम्बन्धिनी स्वामिनियों में भी अलौकिक गूढभाव वाला भगवान का मन उत्पन्न करेगा, इस प्रकार जानना चाहिये।

इस प्रकार कहने से जहाँ व्रजभक्त हैं, वह दिशा भी यदि भगवान के मन से सम्बद्ध है, तो फिर व्रजभक्तों में भगवान का मन संबद्ध हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है, सूचन किया है।

सर्वस्वामिनी श्री गोवर्धन समीपवर्ती श्री यमुना जी के उत्तर भाग वृन्दावन की पूरब दिशा में ही स्थिति है, अतः वहाँ पर ही इस समय भगवान का मन है। मन का पोषक होने के कारण चन्द्र भी पूरब में उदय हुआ है।

जिस समय गोपियां यहाँ आकर अलौकिक अखिल सामग्री विशिष्ट नित्य लीला में स्थित होंगी, उसी समय चन्द्रमा भी मध्याकाश में गोपियों के ऊपर ही स्थित होकर अपना कार्य-साधन करेगा।

यदि कहो कि आकाश का क्या स्वरूप है, तो इसके उत्तर में आकाश भगवान का स्वरूप ही है 'ब्रह्मैव सगुणं बभौ' इस वाक्य में भगवत्स्वरूप बतलाया है। प्रभु का हृदय ही आधिदैविक रूप से बाहर निकलता है, अतः अपने अधिष्ठान के ऊपर ही रहता है, अधिष्ठान जिस समय जहां पर होता है, उस समय उसके ऊपर ही रहता है। श्येन-बाज की तरह। अर्थात् अधिष्ठान के चलने पर चलता है, ठहरने पर ठहरता है।

इस समय गोपियों के गण आये हैं, इसलिये भगवान का हृदय अपने स्थान पर मध्याकाश में आया है, अतः चन्द्रमा भी मध्याकाश में स्थित है। आगे भगवान का मन कहीं नहीं जायगा, तब चन्द्रमा भी स्थिर हो जायगा। क्रीडा जब भगवान की अन्तःस्थित होकर होगी, तब चन्द्रमा की भी अन्तःस्थिति होगी।

यह चन्द्र लीलामात्र सम्बन्धी है, इसलिये इसका अन्यत्र गमन नहीं है, इसी आशय से अस्तमय भी नहीं होता है, इस प्रकार चन्द्र भगवान का रेतरूप पूरब दिशा में उद्गत हुआ है अतः पूरब दिशा का मुख—मध्यभाग श्री वृन्दावन को अपनी किरणों से रञ्जित करता उदय हुआ है। आगे कहा है—'तत्कोमल गोभि रञ्जितम्'।

ये ही चन्द्र नाना प्रकार से सर्वत्र सर्व संपादन करेगा, इस प्रकार पञ्चम अध्याय की टिप्पणी में कहेंगे।

रात्रि में पूरब दिशा के मध्यभाग में राग नहीं होता है किन्तु प्रतिस्पर्धिनी पश्चिम दिशा में सूर्य के सम्बन्ध से राग संभव होता है।

टिप्पणी में कहा है कि सायंकाल संध्या में सर्व द्विज सूर्योपासन करते हैं, इसलिये यही दिशा मुख्य है, इस हेतु से मर्यादामार्गीय का लक्ष होता है, इसी प्रकार सुर्य भी मर्यादामार्गीय है, इसलिये पश्चिम दिशा में सूर्य द्वारा राग सम्भव होता है।

चन्द्रोदय वाली पूरब दिशा पुष्टिमार्गीया है, इसलिये पूरब दिशा की प्रतिस्पर्धिनी-पश्चिम दिशा को कहा है। इस प्रकार कहने से यह भी सूचित किया है कि मर्यादा मार्ग में ताप ही है, और पुष्टि मार्ग में प्रवेश होने पर ताप की निवृत्ति है।

यद्यपि प्रातःकाल पूरब दिशा में भी ताप हैं, तथापि इस समय पूरब दिशा को ताप निवृत्ति करनेवाली कहा है, उसका कारण यह है कि इस समय प्रभु पूरब दिशा के इन्द्र देवता हैं, वहाँ लीला करते हैं, वृन्द्रावन में भी गये हैं, इसलिये पुष्टि सम्बन्ध से पूरब दिशा का उत्कर्ष है।

प्रभु पुष्टि मार्ग का उत्कर्ष ही करते हैं। पुष्टि मार्ग से अन्यत्र किसी का भी उत्कर्ष सहन नहीं करते हैं, यह सब बात हृदय में करके कहा है कि 'तस्यामुखे न राग इत्युक्तं' 'प्रति-स्पर्धिनीत्वमप्युक्तम्'।

सायंकाल में भगवान वृन्दावन से पश्चिम दिशा में आते हैं, वहाँ शयन आरती के समय वेणुनाद आदि से राग का सम्भव होता है। यह भाव महाप्रभु 'एतत्सर्वं हृदि कृत्वा' इस टिप्पणी के 'सर्वं' शब्द से सूचन करते हैं।

इस प्रकार पूरब दिशा का मुख चन्द्रमा ने कुंकुमसदृश अपनी किरणों द्वारा समग्र रक्त-लाल कर दिया है।

यदि चन्द्रमा अपनी दिशा का मुख रञ्जित नहीं करता तो भगवान का मन भी स्त्रियों के हृदय को रञ्जित नहीं करता, इस प्रकार के चन्द्र का उदय यहाँ ही है, और इसकी यही दिशा है, यह भाव है।

जिस प्रकार चन्द्रमा दिशापति है, उसी प्रकार भगवान का मन स्वामिनियों के मन का पति है। अपने देव में स्वकीयाओं का रञ्जन करने वाला धर्म नहीं हो तो भगवान के मन में भी रञ्जनरूप धर्म नहीं हो। (करा:) यह यहाँ हस्त वाचक है, चन्द्रमा में किरण हस्तरूप हैं, शीतल होने से तापहारक हैं अरुणगुण से अत्यन्त कल्याणरूप हैं, कारण कि अरुण—लाल रंग रसप्रधान है। पुरुष भी यदि अनुराग से स्पर्श करता है, तो उस समय सुख प्राप्त होता है।

यदि कहो कि चन्द्रमा का प्रयोजन क्या है, यदि अधिष्ठान मात्र ही प्रयोजन है तो इसका मन में ही उदय होना चाहिये, यदि अन्धकार निवृत्ति प्रयोजन है तो भगवान के द्वारा ही अन्धकार निवृत्त हो जायेगा। अथवा यदि उद्दीपन करना प्रयोजन है तो भी भगवान के द्वारा संभव हो सकता है, अतः चन्द्रमा के उदय होने का असाधारण कार्य बतलाना चाहिये।

इस शंका के उत्तर को कहते हैं कि 'स चर्षणीनां शुचो हरन्निति' चन्द्रमा चर्षणियों का दुःख दूर करता उदित हुआ है। महाप्रभु कहते हैं कि चर्षणी–सर्वत्र घूमने वाली शक्तियाँ हैं, सर्वत्र भक्तों में परिभ्रमणयुक्त प्रसादनिरूपक शक्तियों के अंशभूत शक्तियाँ हैं। अर्थात् समुदित–इकट्ठी स्त्रीत्व लक्षणाशक्ति कात्यायनी है, उसके अंशभूत चर्षणी शक्तियाँ तत्तद् व्रजभक्तों में स्थित हैं, और ये शक्तियाँ भगवान के मन से हुई हैं। टिप्पणी में कहा है कि 'चृष्' प्रजन-नैश्ययोः' यह धातुपाठ में कहा है, इस लिये यह धातु आविर्भावन, ईश धात्वर्थ में और गमन में शक्त है, अथवा ईशका भाव ऐश्य में है।

प्रकृत में तो सर्वात्मभाव से ही एकलभ्य रस की अधिकारी मात्र सृष्टि में ही जो शक्तियां अधिकृत हैं, वे सब भगवान का आविर्भाव जानकर तादृशी—उसी प्रकार की शक्तियों को प्रकट करके फलसिद्धि की प्रतीक्षा करतीं, जहां तक फल नहीं मिलता है, वहां तक अन्य भावों से स्वा-मिनियों की रक्षा करने वाली शक्तियां चर्षणी हैं।

यद्यपि शाब्दिकों ने ऐश्य शब्द को गत्यर्थक कहा है, तथापि 'गत्योः' इस प्रकार न कहकर 'ऐश्ययोः' इस प्रकार कहा है, इससे प्रथम कहा अर्थ भी जानना चाहिये। इसी बात को ज्ञापन करने के लिये यहां उक्त अर्थ कहा है, गमन अर्थ करने में तो जहां शक्तियों को प्रकट किया है, वहां जाकर उस फल की सिद्धि के लिये अनुकूल प्रयत्नवान् होती हैं, इसलिये चर्षणी हैं। चर्षणी शक्तियां सर्वत्र—यथायोग्य कुब्जा आदि भक्तों में घूमती हुई भी कहीं भी परमानन्द सम्बन्धिनी नहीं हुईं, जब कोई मुक्त भी होता है तो भी वे प्रवेश नहीं करती हैं, मुक्ति के पूर्व ही वहां से लौट आती हैं। कारण कि परमानन्द का दान इसके अधिकारियों को ही होता है, मुक्ति आदि में परमानन्द का दान नहीं होता है, अतः मुक्ति संबंध को जानकर लौट आती हैं।

चर्षणी शक्तियां स्वामिनियों में अधिकार का निश्चय करके इनकी आज्ञा से स्थित हैं। अब इस समय भगवद् भोग योग्य अपनी स्वामिनियों में भी परमानन्द के दान में विलम्ब देखकर तथा स्वामिनियों की आर्ति देखकर परम स्नेह के वश से चर्षणी शक्तियों को शोक उत्पन्न हो गया था, उस समय चन्द्रमा प्रिय संगम विना उत्पन्न स्वामिनियों के दुःख को दूर करता हुआ, केवल स्वामिनियों का ही दुःख दूर करता नहीं, किन्तु चर्षणी सहित स्वामिनियों का दुःख दूर करता उद्गत हुआ है। कारण कि स्वामिनियों के दुःख से ही चर्षणी शक्तियों को भी शोक हुआ था, अतः स्वामिनियों के दुःखनिवारण से ही चर्षणी शक्तियों का भी शोक निवृत्त हो गया है।

उक्त हेतु से मुख्य शोक स्वामिनियों को था, चर्षणी शक्तियों को तो स्वामिनियों के स्नेह से शोक हुआ था, इसलिये गौण होने के कारण चर्षणी शक्तियों को सहभाव कहा है, अर्थात् स्वामिनियों की शोकनिवृत्ति के साथ चर्षणी शक्तियों का शोक निवृत्त हो गया।

इस चन्द्र का स्वभाव है, इसलिये उदय होने से संगम का भी निश्चय हो गया, इसलिये शोकनिवृत्ति हो गई। पूर्वोक्त ही श्री आचार्यों ने कहा है कि 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा'।

यौगिक अर्थ द्वितीय पक्ष में है, इस पक्ष में योगमाया के अंशभूत स्वामिनियों में सर्वात्म-भाव उत्पन्न करने वाली शक्तियों को चर्षणी कहते हैं।

योगमाया भगवान् को जिस प्रकार की लीला जहां पर चिकीर्षित है, वहां पर उसी प्रकार की लीला के अनुरूप भाव को सम्पादन करती है।

दोनों पक्षों में चर्षणी शक्तियों का स्वरूपभेद टिप्पणी के अनुसार प्रथम कहा ही है, लीला करने के समय में भी तत्तद लीला के अनुरूप भाव उत्पन्न करने के लिये शक्तियों की भक्तों

में स्थिति है। इसी हेतु से सुबोधिनी में (शक्तिसहितानाम्) इस प्रकार कहा है, इसीसे भगवद्विचारित क्रम से स्वरजातिका ऊँचा ले जाना कहा है।

प्रथम पक्ष में तो चर्षणी शक्तियों के सम्बन्धियों के लिये ही परमानन्द का अनुभव है, अतः वे चर्षणी शक्तियां स्वयं परमानन्द का अनुभव चाहने वाली व्रजभक्तों से अन्य भक्तों में इतने काल तक घूमती चर्षणी शब्द से कही जाती हैं, और मुक्तों में परमानन्द का अभाव जानकर मुक्ति वालों से स्वयं ही निवृत्त होती हैं, कारण कि भगवान ने इनको इस प्रकार की ही रचा है। इसलिये मुक्तों में इनका प्रवेश नहीं है। इसी बात को ज्ञापन करने के लिये सुबोधिनी में 'न लभन्ते' यह कहा है। इसी से आगे 'स्वतएव निवृत्ता भवन्ति' कहा है, 'ननु निर्वृताः' मुक्तों ने निवृत्त की, नहीं कहा है।

चन्द्रोदय होने पर चर्षणियों का शोक निवृत्त हुआ, इस पक्ष में पुनः चन्द्रमा के परामर्श का प्रयोजन नहीं है, इसलिये एक वाक्य को दो बार कहना असंभव है, अतः पूर्व में प्रसिद्ध न होने के कारण चन्द्र की प्रसिद्धि करने वाला तत् शब्द भी नहीं कह सकते हो, इस प्रकार अरुचि होने से आगे पक्ष कहा है कि 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' चर्षणी सहित जीवों को शोक था, वह चन्द्रमा ने उदय होकर दूर कर दिया है। इनका शोक इसी समय निवृत्त हुआ है, कारण कि शक्तिसहित जीवों को ही परमानन्द का अनुभव वक्तव्य है।

योजनाकार लालू भट्ट जी कहते हैं कि मर्यादामार्ग में मुक्ति होने से पूर्व ही चर्षणी शक्तियों का निवर्तन है, कारण कि मुक्त पुरुष का परिभ्रमण नहीं होता है, इसलिये शक्तियों का वहां उपयोग नहीं है।

प्रकृत में तो रास क्रीडा नृत्यादि में भ्रमण के कारण चर्षणी शक्तियों के परिभ्रमण का उपयोग है, इसलिए शक्तियों की निवृत्ति नहीं होती है, तथा परिभ्रमण शक्तियों के सहित व्रजवधुओं को रास में परमानन्द का अनुभव होगा, अतः इस ज्ञान से उनका शोक दूर हो गया है, इसी से श्री आचार्यों ने सुबोधिनी में कहा है कि, 'शक्तिसहितानामेव परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात्' प्रायः करके अवतार सामयिक जीव अनेक लीला करने की इच्छा के अनुरूप हैं, और अनेक भाव संपादन वाली योगमाया के अंशभूत शक्तियों से युक्त हैं, यहां प्रायः शब्द से यह सूचन किया है कि जो जीव उदासीन हैं, उनमें वे शक्तियां नहीं हैं।

शोकनिवृत्ति में हेतु कहते हैं कि चर्षणी सहित जीवों ने जान लिया कि चन्द्रोदय हो गया, अब परमानन्द का अनुभव अवश्य इसी समय होगा। इस प्रकार चन्द्रमा के उदय में तीन प्रयोजन हैं—

(१) दिग्देवता का मुख संमार्जन, (२) चर्षणियों का शोक दूर करना, (३) अन्धकारनिवृत्ति आदि हैं।

तीनों प्रयोजनों में से मुखसंमार्जन यद्यपि चन्द्र से साध्य है, तथापि अति प्रयोजन न होने से उदय में हेतुता नहीं है, प्रासङ्गिक है, इसलिये शेष दो प्रयोजन में एक चन्द्रमा से साध्य है, इस बात को कहने के लिये दृष्टान्त कहते हैं कि, 'प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः'।

बहुत समय में आया प्रिय पति पतिव्रता स्त्री का शोक दूर करके मुखसंमार्जन करता है। यह कार्य और से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसी प्रकार उक्त कार्य चन्द्र विना सिद्ध नहीं होते हैं, अतः चन्द्रोदय हुआ है।

महाप्रभु कहते हैं कि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है, और चर्षणी मन की शक्तियां हैं, अतः चन्द्रमा चर्षणी शक्तियों का भर्ता है, दिशाओं का देवता पति तो स्पष्ट ही है।

इस विषय में स्वतन्त्र लेख इस प्रकार विचार करता है कि, 'चर्षण्यः' 'अत्र परिभ्रमणशक्तयः' चर्षणी यहां परिभ्रमण शक्तियां हैं, इस विषय में श्री आचार्य कृपा से यह ज्ञात होता है कि पूर्व श्लोक में लीला सम्बन्धी रात्रियों का दर्शन करके भगवान का मन लीलामात्र विषय में घूमने लग गया, इसलिए घूमते हुए मन को अपने विषय में करने वाली, और अपने निकट लाने वाली सामर्थ्य रूप शक्तियां चर्षणी शब्द से कही गईं परिभ्रमण रूप व्रजभक्तों में प्रविष्ट हैं।

यद्यपि भगवान के मन के सामर्थ्य से ही भगवान का निकट आगमन संभव है, तथापि यहाँ ईश्वरमर्यादा से प्रभु कुछ भी नहीं करते हैं, किन्तु 'योगमायामुपाश्रितः' इस वाक्य से रसमर्यादा से ही सर्वकार्य करते हैं, केवल मनोमात्र सामर्थ्य से ही नहीं करते हैं, किन्तु उद्दीपन विभाव चन्द्रोदय, गान आदि के द्वारा आगमन होता है, प्रभु के सम्बन्ध में निश्चय नहीं होता है, और अपना कार्य सिद्ध नहीं होता है, तो शोक ही होता है। वह शोक भगवान के मन का नियामक और भावपोषक प्रकट अलौकिक चन्द्र का दर्शन करने से, अब प्रभु का मन सर्वथा बुलाना आदि कार्य करेगा, इस निश्चय से गान के पूर्व ही निवृत्त हो गया, अतएव चन्द्रदर्शन तथा शोकनिवृत्ति के पहिले सर्वस्वामिनियों के मध्य में कोई भी परमानन्दसम्बन्धिनी-भगवत्सम्बन्धिनी नहीं हुई, इस समय शक्तियां स्वामिनियों में हैं, इसलिये स्वामिनियों को भगवान के सङ्ग से परमानन्द का सम्बन्ध हुआ और इनका भी कार्य सिद्ध हो गया, भगवान के निकट आ गईं।

चर्षणियों को भी परमानन्द का अनुभव हुआ, इसलिये सुबोधिनी में कहा है कि 'चर्षणीनां शुचो हरन् स उद्गात्' चर्षणियों का शोक-दुःखहरण करता चन्द्र उदित हुआ। 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' इस द्वितीय व्याख्यान का विवरण टिप्पणी में कहा है।

केवल भगवान के पास में लाने का कार्य संपन्न होने पर भी फिर 'चर्षणीसहितानां जीवानां वा' यहाँ चर्षणीयुक्त जीव कहे हैं। इसमें युक्ति कहते हैं कि, परमानन्द रासलीला वाच्य है, रासलीला में भ्रमण प्रतीत होता है, भ्रमण में, व्रजभक्तों का सामर्थ्य नहीं है, किन्तु प्रभु के मन की सर्वत्र प्रविष्ट शक्तियों से ही भ्रमण हो सकता है।

यह लीला नित्य है, इसलिये सर्वदा ही उक्त शक्तियां व्रजभक्तों के साथ में हैं, इस आशय से आचार्यों ने चर्षणीसहित जीव कहे हैं ॥ २ ॥

(सुबो०) एवं मनस उत्पत्तिमुक्त्वा तद्देवतायाश्च ततः सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थं तस्य शब्दयोनित्वं निरूपयन् तद्दर्शनेन वेणुनाद उत्पन्न इत्याह—दृष्ट्वेति।

इस प्रकार मन की उत्पत्ति और मन के देवता की उत्पत्ति कहकर अनन्तर स्वामिनियों में संकल्प की उत्पत्ति के लिये भगवान के मन का शब्दयोनित्व निरूपण करते, चन्द्रदर्शन से वेणुनाद उत्पन्न हुआ, इसको तीसरे श्लोक में कहते हैं।

भावोद्रेक होने पर स्वतः ही गान उत्पन्न हो जाता है, यह बात प्रत्यक्ष लोक में अनुभवसिद्ध है, भगवान भी भाव के परवश होकर गान करने लगे, इससे गान को स्वातन्त्र्य कहा है। टिप्पणी में श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि श्रुति में कहा है कि 'वाचः पूर्वरूपं हि मनः' वाणी का पूर्वरूप मन है, अर्थात् प्रथम मन में विचार करके पश्चात् वाणी का उच्चार होता है, अतः भगवान का मन समान अधिकरण वाणी की योनि है।

प्रकृत में चन्द्रदर्शन, गान का हेतु कहा है, इसलिये गान समान अधिकरण मन का अधिष्ठाता चन्द्र है।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥

पदपदार्थ—(कुमुद्वन्तम्) को, पृथिव्याम्–पृथ्वी में मुत–आनन्द 'कुमुत् .कुमुद्विद्यते-आनन्द विद्यमान है, कार्यत्वेन यस्य स कुमुद्वान्, तम् कुमुद्वन्तम्' पृथिवी में सर्वत्र आनन्द देनेवाला (अखण्डमण्डलम्) जिसका मण्डल खंडित नहीं–अर्थात् पूर्ण मण्डल वाला (रमाननाभम्) लक्ष्मी-सदृश मुख की कान्ति वाला (नवकुंकुमारुणम्) नवीन केसर सदृश लालवर्ण वाला, चन्द्र और (तत्) उस चन्द्र की (कोमलगोभिः) मृदु किरणों से (रञ्जितं) रँगा गया (वनं) वन को (दृष्ट्वा) देखकर (वामदृशां) सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का (मनोहरं) मनहरण करनेवाला (कलं) अव्यक्त–मधुर स्पष्ट नहीं (जगौ) गान किया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—पृथिवी में सर्वत्र आनन्द करनेवाला, अखंडित मंडल वाला, लक्ष्मी के मुख सदृश कान्तिवाला, नवीन कुंकुम की तरह अरुण–लाल वर्णवाला चन्द्र और चन्द्र की कोमल किरणों से सर्वत्र रँगे वन को देखकर भगवान ने सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का मन हरण करनेवाला अव्यक्त मधुर गान किया ॥ ३ ॥

(सुबो०) कुमुद्वांश्चन्द्रः, पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानिति। तथाकरणे सामर्थ्यं अखण्डमण्डलमिति। न खण्डं मंडलं यस्य। एतस्य रसोत्पादने विभावकत्वमप्यस्तीति ज्ञापयितुं रमाननाभमित्युक्तम्। लक्ष्म्या अयं भ्राता भवतीति, रमाया आननवत् आभा यस्य, तथोक्तः। किञ्च, नवकुंकुमवदरुणवर्णमपि। तेन विवाहसमये यथा लक्ष्मीमुखं तथायं वर्तते। अतो नूतनकामजनकः किञ्च, वनमपि रसपोषकम्। तस्य कोमलगोभिरल्पकिरणैः अभितो रञ्जितमारक्तयुक्तम्। (किरणानां रसदोग्धृत्वम्। वन एव पाल्यमानत्वं च ज्ञापयितुं गोपदम्। रमाननाभत्वेन पूर्वं निरूपणाद्यथा तन्नूतनकटाक्षा भावोदयहेतवः, तथैतेऽपीति ज्ञापनाय च गोपदमिन्द्रियस्यापि वाचकमिति तथा। अधुना भावोत्पत्तिरेव। तत्पोषस्तु स्वामिन्यागमनादिनाग्रे भावीति ज्ञापयितुं कोमलपदम्। यत्र तेन वनमपि रज्यते, तत्र यदर्थमागतः तद्रागं कथं न कुर्यात्।) ततः संकल्पद्वारा कामजनने सर्वं कार्यं भविष्यतीति कलं यथा भवति तथा जगौ, गानं कृतवान्। तच्च गानं वामदृशां सुन्दरदृष्टीनां स्त्रीणां मनोहरमिति। 'तस्माद् गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इति श्रुतेः। अर्थाद् गीतेन सर्वाः समाहूता इति। यदि व्यक्तमधुरं गीतं कुर्यात्, तदा गीतमेव शृण्वन्त्यः तत्रैव स्थिता भवेयुः। यासां पुनर्दृष्टिर्नोत्तमा, तास्तु नाकारिता एव ॥ ३ ॥

चन्द्र आनन्दवान् है, इससे उदित होकर पृथिवी में 'कासुचिद् भूमिषु निजानन्दं ववर्ष, इस विद्वन्मंडन के कथनानुसार स्वामिनीरूप भूमि में सर्वत्र ही आनन्द कर दिया है।

सर्वत्र आनन्द करने का सामर्थ्य 'अखण्डमंडलम्' पूर्ण मंडल है, अर्थात् सर्वविषयक पूर्णभाव है, कहीं से खण्डित नहीं है। मण्डल होने के कारण सर्वत्र आनन्द कर दिया है।

इस चन्द्र को रस उत्पन्न करने में विभावकत्व भी है, मन का अधिष्ठाता है, इसलिये अनुभावकत्व और लक्ष्मीसदृश मुख की आभा से विभावकत्व है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये (रमाननाभं) यह कहा है।

लक्ष्मी का यह चन्द्र भ्राता है, इस मन्वन्तर में चन्द्र अत्रि का पुत्र है, अतः लक्ष्मी का भ्राता नहीं है, पहिले मन्वन्तर में लक्ष्मी का भ्राता भी है, किन्तु पुराणान्तर में खण्डरूप से—अर्धचन्द्राकार से शिवमस्तक का भूषण कहा है। यहाँ पर 'अखण्ड' मण्डलं' 'रमाननाभं' कहने से और पहिले नूतन प्रतिपादन करने के कारण लक्ष्मी का भ्राता सम्भव नहीं होता है, इसीलिये टिप्पणी में इसका आशय कहते हैं कि भगवान को जिस समय रमण करने की इच्छा हुई, उस समय रस के पूर्ण करने के लिये ब्रह्मानन्दलक्ष्म्यात्मक नायिकारूप का भगवान ने आविर्भाव किया, कारण कि ब्रह्मानन्दरूप लक्ष्मी भगवान का रमणस्थान है।

इसी प्रकार चन्द्र को भी प्रकट किया है, अतः यह चन्द्र लक्ष्मी का भ्राता है। कारण कि लक्ष्मीमुख सदृश आकारवाला चन्द्र है और लक्ष्मी के मुख की तरह इसकी आभा है, इसलिये उक्त भाव से यहां लक्ष्मीभ्रातृत्व स्थान है, लोकसिद्ध अभिप्राय से नहीं है, इसलिये कोई अयुक्तता नहीं है। लक्षणा भी नहीं है, इसी प्रकार आगे विवाहलीला भी है, यहां पहिले विशेषण से आलम्बन की सदृशता कही है, अब आगे के विशेषण में उद्दीपन विभावकत्व कहते हैं 'नवकुंकुमारुणम्' नवीन कुंकुम सदृश अरुण वर्ण है, नव पद का तात्पर्य यह है कि विवाहसमय में जिस प्रकार लक्ष्मी का मुख कुंकुम से लाल हुआ, उसी प्रकार चन्द्र भी है, इसलिये नूतन काम उत्पन्न करनेवाला है।

वन भी रसपोषक है, चन्द्र की अल्प किरणों से समस्त वन रञ्जित—रक्त हो रहा है।

स्वतन्त्र में श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि चन्द्रकिरणें रसदोहन करनेवाली हैं और वन में ही पालन होता है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये 'गोभिः' इसमें गोपद है, प्रथम चन्द्र का मुख लक्ष्मी सदृश कहा है, इसलिये लक्ष्मी के मुख में जिस प्रकार नूतन कटाक्षभाव के उदय में हेतु हैं, उसी प्रकार चन्द्र किरण भी भाव प्रकट करती हैं।

गोपद इन्द्रियों का भी वाचक है, इसलिये पूर्वोक्त अर्थ कहा है। इस समय भाव की ही उत्पत्ति है, पोषण तो स्वामिनियों के आगमन आदि से आगे होगा, इस बात को ज्ञापन करने के लिये यहां 'कोमल' पद कहा है। चन्द्रमा ने जब वन को भी रञ्जित कर दिया है, तो फिर चर्षणियों के लिये तो रञ्जित करने को आया ही है, इसलिये चर्षणियों को तो रञ्जित करेगा ही।

अब भगवान को राग के अनन्तर संकल्प द्वारा काम उत्पन्न करना है, जिससे सब कार्य होगा, अतः भगवान ने कल—अव्यक्त मधुर गान किया है और गान से सुन्दर दृष्टिवाली स्त्रियों का मन हरण कर लिया है।

'तस्माद्गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते' यह श्रुति उक्तार्थ में प्रमाण है, अर्थात् गानद्वारा सब व्रजभक्त स्त्रियों को अपने पास बुलाया।

यहां आज्ञान पद का अर्थ स्वविषयक संकल्प उत्पन्न करनेवाला है, अर्थात् अपना संकल्प गोपियों में उत्पन्न करना है।

यदि कहो कि भगवान ने कलगान क्यों किया, व्यक्तगान क्यों नहीं किया ?

तब इसका उत्तर आगे देते हैं कि यदि भगवान व्यक्त मधुर गीत करते तो गीत को ही श्रवण करती गोपियां व्रज में ही रह जातीं, लीलास्थल पर नहीं आतीं, इसलिये भगवान ने अव्यक्त गान किया है।

यद्यपि स्वरूप दर्शन की इच्छा श्रवण करने से निवृत्त नहीं होती है, तथापि गीत का अर्थ स्वरूप ही है, वह गीत अर्थसंयुक्त ही है। इसलिये व्यक्त गीत करने पर अर्थ भी व्यक्त हो जाता। फिर आगे के श्लोक में 'तदनङ्गवर्धनम्' कहने से स्वरूप रस अनुभव की इच्छा ही उत्पन्न होती। और रस का अनुभव होने पर फिर भगवान के समीप गोपियां नहीं आ सकतीं, इसलिये भगवान ने कलगान किया है।

जिन भक्तों की दृष्टि उत्तम नहीं थी, उनको भगवान ने नहीं बुलाया, कारण कि यहां पुष्टिमार्गीय भजन पर दृष्टि को ही उत्तमत्व है। नहीं तो चारु आदि पदों को छोड़कर वामपद नहीं कहते ॥ ३ ॥ इस प्रकार तीसरे श्लोक की भाषा हुई।

(सुबो०) ततः सर्वाः स्त्रियः समागता इत्याह–निशम्येति।

इस प्रकार भगवान ने कलगान करके अपना संकल्प स्वामिनियों को बोधित किया, फिर सब स्त्रियां भगवान के समीप आईं, इस बात को आगे के श्लोक में कहते हैं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥४॥

पदपदार्थ—(अनङ्गवर्धनं) काम बढ़ानेवाला (तत्) कलं अव्यक्त—स्पष्ट नहीं (गीतं) गान को (निशम्य) श्रवण कर (कृष्णगृहीतमानसाः) कृष्ण ने ग्रहण किये मन जिनके (अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः) परस्पर अलक्षित—नहीं जाना है उद्यम जिनका (जवलोल कुण्डलाः) शीघ्रगमन से हिल रहे हैं कुण्डल जिनके (व्रजस्त्रियः) व्रज की स्त्रियां (यत्र) जिस स्थान पर (सः) वह कलगान करनेवाला (कान्तः) पति है, (आजग्मुः) आ गईं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अनङ्ग—काम बढ़ानेवाले गीत का श्रवण करके, कृष्ण ने जिनका मन ग्रहण कर लिया, परस्पर भगवान के समीप आगमन में अलक्षित उद्यम जिनका और शीघ्र चलने से कुण्डल हिल रहे जिनके इस प्रकार की गोपियां जहां कान्त है वहां आईं ॥ ४ ॥

(सुबो०) यद्यपि भगवता कुमारिका एवाहूताः तथापि, आह्वानं सदृशमिति, निरोधोऽपि कर्तव्य इति सर्वा एव समागताः। किञ्च, यद्भगवता गीतं तदनङ्गमेव वर्धयति, अङ्गं तु नाशयत्येव। अतोनूतन उत्पन्नः कामः तान् 'आनीतवान्' किञ्च, व्रजस्य स्त्रियः पूर्वमपि भगवदीयाः, अतः कृष्णेनैव गृहीतं मनो यासाम्। अतः शीघ्रमेव यत्र कान्तस्तत्रागताः। अनेन आकारिता एव प्रथममागता इत्युक्तम्। तासां मुख्यः कान्त इति। अत एवान्योन्यमलक्षित उद्यमो यासाम्। ता हि प्रत्येकमेव भगवन्तं पतित्वेन स्वीकृतवत्यः। स पूर्वमुपात्तो वा कान्तः। तासां शरीरविचारेऽपि दृष्टिर्न जातेति वक्तुं जवेन लोले कुण्डले यासामिति कर्णपीडाननुसन्धानं प्रदर्शितम्। ताः स्त्रियो गौडदेशस्थाः।

तत एव कुमारिकाः समागता इति। पूर्वं मथुरादेशस्थितानामपि अनागरीणां कुण्डले एव। ताटङ्कयोरेव वा कुण्डलत्वम् ॥ ४ ॥

यद्यपि उपक्रम में भगवान ने कुमारिकाओं के वरदान सम्बन्धिनी रात्रियों का दर्शन करके रमण करने की इच्छा की थी, कारण कि स्वविषयक संकल्प उत्पन्न रूप आह्वान—(जिसके द्वारा बुलाया जाय वह आह्वान है) भगवान को इष्टतम है। इसलिये कुमारिका ही बुलाई थीं, तथापि आह्वान और गान का श्रवण दोनों प्रकार की गोपियों को ही बराबर है, कारण कि निरोध दोनों को ही करना है और स्वरूपानन्द का दान भी दोनों को ही करना है, अनङ्गवर्धन भी दोनों को ही हुआ है, इसलिये सभी गोपियां आई हैं, 'तदनङ्गवर्धनम्' प्राकृत अङ्गरहित स्वरूपात्मक काम का वर्धन किया है, इस वाक्य से भगवदीय अनङ्ग जहां पर है, वहां पर गीत काम का वर्धन करता है।

भगवदीय अनङ्ग व्रज की स्त्रियों में स्थित है, इसलिये अनङ्ग बढ़ाया है, इसीसे कुमारिका और उनसे अतिरिक्त अन्य भी आई हैं, इसलिये यहां मूल में वर्धकत्व कहा है, जनकत्व नहीं कहा है।

आचार्यों ने भी यही कहा है कि 'आह्वानं सदृशम्'।

अब व्रजस्त्रियों के आगमन में अन्य हेतु भी कहते हैं कि 'अनङ्ग-वर्धनम्' भगवान ने जो गान किया है, वह प्राकृत अङ्गरहित स्वरूपात्मक काम को ही बढ़ाता है और अङ्ग-प्राकृत विभावाद्यङ्गयुक्त काम का तो नाश ही करता है।

योजनाकार कहते हैं कि द्वितीयस्कन्ध सुबोधिनी में प्रपञ्च का अभाव, भक्तों का निरोध कहा है। और दशम सुबोधिनी में 'एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशेत्। तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्ण समुद्यमः॥ लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनम्। निवर्तते तदेवात्र ब्रह्मेन्द्ररुद्रमयं यथा॥' यहां पर प्रपञ्च का लय निरोध कहा है। इसलिये पहिले देह आदि प्रपञ्च का लय फलात्मक निरोध है।

यहां देहादि का लय करने वाला वेणुनाद है। वह वेणुनाद अङ्ग का तो नाश करता है, अतः सिद्ध हुआ कि अलौकिक देह आदि प्रपञ्च सम्पादन करना वेणुनाद कार्य है, इसलिये नूतन काम उत्पन्न होकर व्रजस्त्रियों को भगवान के समीप लाया है।

पहिले की अपेक्षा इस समय उत्कट होने से नूतन काम उत्पन्न हुआ, कहा है।

यदि कहो कि देशान्तर का व्यवहार देशान्तर में सम्भव नहीं हो सकता है, फिर स्वामिनियों को काम कैसे भगवान के समीप लाया।

इसके उत्तर में कहते हैं कि व्रज की स्त्रियां प्रथम से ही भगवदीय थीं। इसलिये कृष्ण ने इनके मन ग्रहण कर लिये हैं, इसी कारण जहां पर कान्त-सुखों का अन्त जिसमें है, अर्थात् पूर्ण सुखरूप पति हैं, वहां पर आयीं।

कान्त शब्द यह भी सूचन करता है कि जिनको भगवान ने बुलाया था, वे ही भगवान के समीप आई हैं। कारण कि उनका ही मुख्य कान्त है। अर्थात् कुमारिकाएँ आईं।

फिर अन्यपूर्वा-गोपोंकी स्त्रियां किस प्रकार से आईं। इनके आगमन का हेतु बतलाते हैं कि कृष्ण में मन जिस प्रकार कुमारिकाओं का था, उसी प्रकार श्रुति रूपाओं का भी था,

भगवान ने दोनों के ही मन ग्रहण किये थे, अतः विषय सादृश्यकृत दोनों ने ही गान श्रवण किया है।

प्रथम निषेध और अनङ्गवर्धक आदि हेतु बतलाये हैं, इसलिये एक का एक ने भगवानके समीप आनेका उद्यम नहीं देखा है।

व्रजभक्त प्रत्येक भगवान को अपना ही पति मानती थीं, अपने पति के पास जाते समय कोई भी कुछ कहता नहीं है, अतः किसीने किसीसे कहा नहीं था।

व्रजभक्तों ने अपने शरीर का भी विचार नहीं किया है, इस बात को आगे कहते हैं कि जल्दी-जल्दी चलनेसे कुण्डल हिल रहे हैं, हिलने से जो कानोंमें पीडा हो रही है, उसका अनुसंधान गोपियों को नहीं है।

कुमारिकायें गौडदेश में रहने वाली थीं, वहां से व्रजमें आई थीं। पहिले मथुरा देशमें रहने वाली ग्रामीण स्त्रियां कुण्डल पहिनती थीं, अथवा ताटङ्क–कर्णभूषण को ही कुण्डल कहते हैं 'कुण्डलं कर्णभूषणम्' इस कोश के अनुसार कुण्डल पदको सामान्य में शक्ति है ॥ ४ ॥

(सुबो०) प्रसङ्गादन्यासामप्यागमनमाह–दुहन्त्य इति ।

यहां दो पक्ष संभव होते हैं, प्रथम पक्ष तो यह है कि भगवान ने केवल कमारिकाओं को ही बुलाया, यह मुख्य पक्ष है। दूसरा पक्ष बिना भेदभाव के सब गोपियों को बुलाया।

पहिले पक्ष में आभास में कहते हैं कि प्रसङ्ग से अन्य गोपियों का भी आगमन कहते हैं, दूसरे पक्ष में 'तासां वा क्रियापराणां वा' अनेक प्रकार की क्रिया–कार्य घर में करने वाली गोपियां भगवान के समीप आईं इस प्रकार आगे श्लोक में कहते हैं—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—(काश्चित्) कितनी ही (समुत्सुकाः) अत्यन्त उत्कंठित गोपियां (दुहन्त्यः) दोहन करतीं (दोहं) दूहने को (हित्वा) छोड़कर (अभिययुः) भगवान के संमुख गईं (अपरा) और गोपियां (पयः) दूधको (अधिश्रित्य) गरम करने को चूल्हे पर रखकर (संयावम्) दूध में गेहूं के कण-दलिया को (अनुद्वास्य) चूल्हे पर से विना उतारे (ययुः) गईं।

भाषार्थ—कितनी ही गोपियां गायें दुह रही थीं, दुहना छोड़कर अत्यन्त उत्कण्ठित भगवान के संमुख आईं, और कितनी ही चूल्हे पर दूध गरम कर रही थीं, उसको छोड़कर आईं, कितनी ही गेहूँ का दलिया—थूली चूल्हे पर से बिना उतारे ही आईं ॥ ५ ॥

(सुबो०) तासां वा क्रियापराणाम् । तत्र काश्चन षोडशहस्रव्यतिरिक्ताः नवविधाः समागताः, दशविधा वा । गुणानां त्रैविध्यान्नवविधत्वम् । निर्गुणाश्चैकविधाः । जातिकुललोकधर्मपराः तिस्रस्तिस्र उदीरिताः । तत्र गोपजातीयाः दुग्धपराः । तत्र दुग्धस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् कुर्वन्ति तास्तिस्रः प्रथममुदीरिताः । एवंविधा अपि गणश इति वक्तुं सर्वत्र बहुवचनम् । काश्चिद् दुहन्त्य एव दोहं दोहनलक्षणं कर्म मध्ये त्यक्त्वा भगवदाभिमुख्येन ययुः ।

गौर्वत्सश्च बद्धौ, दोहनपात्रं च अर्धदुग्धम्, यः समयः सर्वथा त्यक्तुमशक्यः, तस्मिन् समये समागताः । तथा समागमने हेतुः समुत्सुकाः इति । सम्यगुत्सुकाः, को वेद क्षणान्तरे भगवान् क्व गमिष्यतीति । अन्याः पुनः पयः अधिश्रित्य तथैव ययुः । भोजनार्थं पयसि पच्यमानाः गोधूमकणाः संयावशब्देनोच्यन्ते । तेषां दाहे सर्वनाश इति । पक्वदशैव संयावशब्देनोच्यते । अतस्तदप्यनुद्वास्य काश्चन अभिययुः । अपरा इति सर्वत्र गुणैर्भिन्नस्वभावत्वम् । एवं तिस्रो राजस्यः ॥५॥

भगवान के समीप में सोलह हजार कुमारिकाओं से पृथक् नव प्रकार की अथवा दश प्रकार की गोपियां आईं, सत्व रज तम तीन गुण हैं, प्रत्येक तीनों गुणों में–अर्थात् एक में एक का मिश्रण करने पर नव प्रकार होते हैं और एक प्रकार निर्गुण है, इस प्रकार दश प्रकार हुए।

यहां गुण शब्द सर्वत्र भावपरक है, प्राकृत गुणपरक नहीं है। और यहां रससम्बन्धी सत्त्विकादि भाव हैं, भावकी विलक्षणता बतलाने के लिये गुण कहे हैं।

इस प्रकार भगवान के समीप में नव प्रकार की अथवा दस प्रकार की गोपस्त्रियां आईं, जातिधर्म, कुलधर्म, लोकधर्म करनेवाली गोपियों के तीन-तीन भेद यहां कहे हैं, इस प्रकार नव होते हैं।

इसमें गोपजाति धर्मवाली गोपियों का दुग्ध से सम्बन्ध है, इसलिये ये दूध की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करती हैं, ये तीन प्रकारकी इस पांचवें श्लोक में कही राजसी हैं, इनमें दूध की उत्पत्ति–दोहन करनेवाली राजस राजसी हैं, स्थिति करने वाली–दूध गरम करने वाली सात्त्विक राजसी हैं।

संयाव आदि से दूध का प्रलय करने वाली तामस राजसी हैं। इस प्रकार तीन प्रकार की गोपस्त्रियों के यूथ हैं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'दुहन्त्यः' आदि में बहुवचन का प्रयोग किया है।

कितनी ही गोपियाँ दूध दुहतीं, दोहन लक्षण कर्म को मध्य में ही छोड़कर भगवान के समीप में गईं, गाय में बछड़ा बांध दिये, दोहनी में आधा दूध दुहा गया, यह समय सर्वथा छोड़ने का नहीं है, किन्तु इस समय में भी राजस राजसी गोपस्त्रियां छोड़कर भगवान के समीप में चली गईं।

गोपस्त्रियां ऐसे समय में क्यों गईं ? इसका हेतु कहते हैं कि (समुत्सुकाः) सम्यक् उत्सुक–गोपस्त्रियों को भगवान का दर्शन करने के लिये अत्यन्त उत्कंठा उत्पन्न हो गई, कि न जाने क्षण के अन्तर में भगवान कहां चले जायेंगे, इस कारण सब कार्य छोड़कर भगवान के समीप गईं।

अन्य कितनी ही सात्त्विक राजसी गोपस्त्रियां दूध चूल्हे पर औंटाने को रखकर, उसे चूल्हे पर ही छोड़कर चली गईं।

भोजन के लिये दूधमें पक्व किये गेहूं के कण–दलिया को संयाव कहते हैं, अतः संयाव को चूल्हे पर से उतारे बिना ही तामस राजसी गोपस्त्रियां भगवान के समीप गईं।

श्लोक में 'अपरा' शब्द सर्वत्र गुणों द्वारा भिन्न स्वभाव सूचक है, इस प्रकार इस श्लोक में गोप जाति धर्म वाली और सात्त्विक, राजस, तामस भाव वाली राजसी गोपस्त्रियों का भगवत्समीप में आगमन कहा है ॥ ५ ॥

(सुबो०) सात्त्विकीराह—परिवेषयन्त्य इति ।

अब आगे छठे श्लोक में सात्त्विक गोपियों के तीन भाव कहते हैं—

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशूनथ ।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—(अन्याः, परिवेषयन्त्यः) अन्य गोपस्त्रियां परोस रही (तत्) उस परोसने को (हित्वा) छोड़कर (अन्याः शिशून्) अन्य गोपस्त्रियां बालकों को (पाययन्त्यः) दूध पान कराती (अथ अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (पतीन्) अपने पतियों को (शुश्रूषन्त्यः) सेवा करतीं, (काश्चित्) कितनी ही गोपस्त्रियां (अश्नन्त्यः) भोजन करतीं (भोजनम्) भोजन को (अपास्य) छोड़कर भगवान के समीप में गईं ॥ ६ ॥

भावार्थ—कितनी ही अन्य गोपियां परोसती थीं, वे परोसना छोड़कर भगवान के समीप गईं, अन्य गोपस्त्रियां बालकों को दूध पिलाती थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर गईं, अन्य गोपियां पतियों की सेवा करती थीं, वे पति-सेवा छोड़कर गईं, अन्य गोपियां भोजन करती थीं, वे भोजन करना छोड़कर गईं, (अश्नन्त्यः) इसका सम्बन्ध आगे श्लोक के त्रिक से है ॥ ६ ॥

(सुबो०) भर्तुरपत्यस्यापि सेवा स्त्रीधर्मः । तत्र भर्तुर्भोजने शयने च सेवा स्वधर्मः । अतिबालकानां पुत्राणां स्तनदानं च । परिवेषणं च सृष्टिरिव, रेतस उत्पादकत्वात् । स्तनदानं पालनम् । शिष्टमन्यत् । सर्वत्र तत्तद्धित्वेति ज्ञेयम् । अन्या इत्यपि । तामसीराह अश्नन्त्योऽपास्य भोजनमित्यादि ॥६॥

पति-पुत्र की सेवा करना स्त्री का धर्म है, उसमें भोजन शयन में पतिसेवा स्वधर्म है, अत्यन्त बालकों के लिये स्तनदान भी स्त्रीधर्म है, और परोसना उत्पत्ति सदृश है, कारण कि वीर्य उत्पन्न करता है ।

स्तनदान पालन है, लेष अन्य संहार है, परोसना आदि छोड़कर सर्वत्र जानना चाहिये, और 'अन्याः यह भी सर्वत्र कहना चाहिये ।

तामसी गोपस्त्रियों के तीन भाव कहते हैं (अश्नन्त्योपास्य भोजनम्) यहां परोसनेवाली स्त्रियां सात्त्विकियों में राजस सात्त्विकी हैं, कारण कि परोसना भोजन में हेतु है, भोजन से वीर्य उत्पन्न होता है । इस प्रकार परोसना उत्पत्तिसाधक है, इसलिए परोसनेवाली स्त्रियां राजस सात्त्विकी हैं ।

छोटे बच्चों को स्तनपान करानेवाली सात्त्विक सात्त्विकी हैं, कारण कि स्तनदान पालन है ।

पतियों की सेवा करनेवाली स्त्रियां तामस सात्त्विकी हैं, कारण कि पति शुश्रूषण भोग-प्रधान है, इसलिये पारमार्थिक बुद्धिनाशक है, नाश तमोगुण का कार्य है ॥ ६ ॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥ ७ ॥

पदपदार्थ—(अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (लिम्पन्त्यः) अनुलेपन करतीं (अन्याः) अन्य गोपस्त्रियां (प्रमृजन्त्यः) शुद्ध करतीं गृहादि को अथवा भूषणों को (काश्च) कितनी ही गोपियां

(लोचने) नेत्रों में (अञ्जन्त्यः) काजल लगातीं (व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः) विपरीत—उलटे अर्थात् हाथों के पावों में इत्यादि वस्त्रभूषण वाली (काश्चित्) कितनी ही (कृष्णान्तिकं) कृष्ण समीप में (ययुः) गईं ॥ ७ ॥

भावार्थ—अन्य स्त्रियां शरीर में चन्दन आदि का अनुलेपन करती थीं, अथवा गृह आदि को लीपती थीं उसको छोड़कर भगवान के समीप में गईं, अन्य गोपस्त्रियां शरीर में उद्वर्तन-उबटन आदि अथवा आभरणों को अथवा पात्रों को प्रमार्जन करती थीं, उसको छोड़कर गईं, अन्य कई स्त्रियां नेत्रों में अञ्जन-काजल लगा रही थीं, उसको छोड़कर गईं, वस्त्र-आभूषणों को विपरीत—जो नीचे के अङ्ग में पहिनने योग्य थे, उनको ऊपर के अङ्ग में और जो ऊपर के अङ्ग में पहिनने योग्य थे, उनको नीचे के अङ्ग में पहिनकर कितनी ही स्त्रियां कृष्ण समीप गईं ॥ ७ ॥

(सुबो०) लिम्पन्त्यः शरीरानुलेपनं कुर्वन्त्यः, प्रमृजन्त्य उद्वर्तनादिकं कुर्वन्त्यः, गृहं वा लिम्पन्त्यः, प्रमृजन्त्यः आभरणानि, भाण्डानि वा प्रमृजन्त्यः । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या, ततः पतिसेवेति । 'अञ्जन्त्यः काश्च लोचने' इति गुणातीताः । अतः 'काश्च लोचने' इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । ज्ञानमार्गशोधिका इति निर्गुणत्वम् । तासामागमने दैहिकविचारोऽपि न जातः, किम्पुनस्तद्धर्माणामिति वक्तुं वस्त्राभरणयोर्व्यत्यासमाह व्यत्यस्तेति । व्यत्यस्तानि विपरीतानि वस्त्राण्याभरणानि च यासाम् । एवमुद्यमः सर्वासामेव साधारणो निरूपितः । 'व्यत्यासो मार्गगता' विति केचित् । तन्मध्येऽपि काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः, काश्चिन्न । या पुनः शब्दपरा जाताः, ता उद्युक्ता अपि नागताः, याः पुनः शब्दापेक्षां त्यक्तवत्यः, ताः सर्वतो निरपेक्षाः विपरीतावश्यकदेहधर्माः भगवदन्तिकमागताः ॥ ७ ॥

अन्य कितनी ही गोपस्त्रियां शरीर में चन्दन आदि से अनुलेपन करती थीं, अथवा गृह को लीप रही थीं और कितनी ही स्त्रियां उद्वर्तन—उबटना आदि शब्द से स्नानादि करती थीं, अथवा आभरण—गहने, अथवा पात्रों को मांज धोकर शुद्ध करती थीं, वे सब उन सब कार्यों को छोड़कर भगवान के समीप गईं, इन तामसी गोपस्त्रियों में भी पहिले की तरह उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयभाव का क्रम है ।

अर्थात् प्रथम श्लोक ७ के चतुर्थ चरण में (अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्) यह उत्पत्ति और शरीर में चन्दनादि अनुलेपन स्थिति, तथा प्रमार्जन करना प्रलय है, प्रमार्जन करने से मलिनता नष्ट होती है, नाश करना प्रलय है । इसलिये प्रलयकर्तृत्व कहा है ।

इस प्रकार राजस, तामस, सात्त्विक तीन प्रकार के गोपियों के भाव-भेद कहे हैं ।

यदि कहो कि गोपस्त्रियों में राजस, तामस, सात्त्विक भाव किस प्रकार से हैं । तो इसके उत्तर में कहते हैं कि शरीरसेवा से गोसेवा मुख्य है, गोसेवा से पतिसेवा मुख्य है, शरीरसेवा तामस धर्म है, इसको लोकधर्मवाली गोपियों में पहिले 'अश्नन्त्य' इत्यादि त्रिक में कहा है, गोसेवा शरीरसेवा से उत्तम है, इसलिये राजसधर्म है, उसको 'दुहन्त्यमोऽभिययुः' इत्यादि त्रिक में कहा है और गोसेवा से पतिसेवा उत्तम है, उसको 'परिवेषयन्त्य' इत्यादि त्रिक में कहा है, पतिसेवा सात्त्विकी है ।

'अञ्जन्त्यः काश्च लोचने' नेत्रों में काजल लगानेवाली गोपस्त्रियां गुणातीत हैं, कारण कि दुहने आदि की अपेक्षा अञ्जन को अन्तरङ्गता है, अन्य आभूषण पहिनने पर भी नेत्रों में काजल लगाये बिना सुन्दरता फीकी हो जाती है, इसलिये अञ्जन लगाना शृंगार में मुख्य है। इसका त्याग अशक्य है, फिर इसका त्याग करके भगवान के समीप गई हैं, इसलिये इन गोपस्त्रियों का दुर्लभ अधिकार सुबोधिनी में सूचन किया है।

ये शास्त्ररीति से जाननेवाले ज्ञानमार्ग का शोधन करनेवाली हैं, इसलिये निर्गुण हैं।

गोपस्त्रियों को भगवान के समीप आने में दैहिक विचार भी नहीं रहा, फिर शरीरधर्म-त्रपा-लज्जा आदि का विचार तो कैसे होता ? इसी बात को कहने के लिये वस्त्र–आभरणों का विपरात पहिनना कहते हैं कि 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः' विपरीत वस्त्र आभूषण पहिन कर स्त्रियां गई थीं।

इस प्रकार भगवान के समीप जाने के सर्वगोपियों के उद्यम का साधारण निरूपण किया है।

गोपियों के विपरीत पहिने वस्त्र आदि का योगमाया यथावत् सम्पादन करेगी। इसमें किसी का यह कहना है कि शीघ्र जाने से मार्ग में वस्त्रादि का व्यत्यास हो गया है।

इस प्रकार भगवान के समीप जानेवाली गोपियों के मध्य से भी कितनी ही गोपियां कृष्णसमीप गईं और कितनी ही गोपियां नहीं गईं। कारण कि जो गोपियां पति आदि के निवारण शब्दों को सुनकर विचार करने लग गईं, उन्होंने उद्योग भी किया, किन्तु भगवान के समीप नहीं जा सकीं। और जिन गोपियों ने निवारण शब्दों की उपेक्षा कर दी, अर्थात् अपेक्षा त्याग कर दी, वे स्त्रियां सब से निरपेक्ष विपरीत आवश्यक देह धर्मवाली भगवान के समीप आ गईं।

कुछ आईं कुछ नहीं आईं', इस अर्थ का पोषण टिप्पणी में किया है कि 'अन्यथा' यदि पूर्वोक्त कोई आईं कोई नहीं आईं', इस प्रकार नहीं मानते हैं तो पूर्व वाक्य में 'काश्चित्' कह दिया था, वस्त्र आदि का विपरीत पहिनना वेगकृत सर्वसाधारण है, पुनः 'काश्चित्' पद जो कहा है, वह असंबद्ध हो जायगा—उसका सम्बन्ध नहीं लगेगा, इसलिये 'काश्चित्' पद को सम्बद्ध-सम्बन्धित करने के लिये पूर्वोक्त अर्थ का सम्भव होता है ॥ ७ ॥

(सुबो०) सर्वासामनागमने हेतुमाह—ता वार्यमाणा इति।

समस्त गोपियां भगवान के पास नहीं आईं, इसमें हेतु आठवें श्लोक में कहते हैं—

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥ ८ ॥

पदपदार्थ—(ताः) वे गोपियां (पतिभिः) पतियों से (पितृभिः) माता-पिताओं से (पुत्रबन्धुभिः) पुत्रबन्धुओं से (वार्यमाणाः) रोकी गईं, (गोविन्दापहृतात्मानः) गोविन्द ने हरण किया मन जिनका (मोहिताः) मोहित हुईं (न) नहीं (न्यवर्तन्त) लौटीं ॥ ८ ॥

भावार्थ—गोपियों को पतियों ने और माता-पिताओं ने तथा पुत्र सम्बन्धियों ने रोका, किन्तु गोविन्द ने उनका मन हर लिया था, इसलिये मोहित हुईं नहीं लौटीं, पति आदि की आज्ञा न मानकर भगवान के समीप ही पहुंच गईं ॥ ८ ॥

(सुबो०) 'रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रस्तु वार्धके। अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः' इति चत्वारो रक्षकाः। अतो यथायथं पतिभिर्वार्यमाणा जाताः, काश्चन पितृभिः, तथैव पुत्रैर्बन्धुभिश्च। ते हि निरुद्धा अपि फलरसानभिज्ञाः, साधनप्रवणाः। स्वद्वारैव स्त्रीणां भजने भजनं मन्यते, न तु स्वातन्त्र्येण। तथापि गोविन्देनापहृतः आत्मा अन्तःकरणं यासाम्। निवारणं हि श्रौतम्। प्रवर्तकश्च भगवान्। अन्तःकरणारूढाश्च पुरुषाः। न हि नौका प्रवाहवेगाद् गच्छन्ती तिष्ठ तिष्ठेत्युक्ता तिष्ठति। भयं स्वधर्मो वा तासां नास्तीत्याह मोहिता इति। यदि ताः कृष्णान्तिकं न गच्छेयुः, तदा मूर्च्छिता इव प्राणांस्त्यजेयुः।' सर्वात्मभावज्ञापनायैवाधुना व्रजस्थानामेतदागमन-ज्ञानं कारितवानिति ज्ञेयम्' अन्यथाऽग्रे 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि'ति वाक्याद्यथा वनस्थित्यज्ञानं संपादितवान्, एवं पूर्वमेवागमनाज्ञानमेव कथं न संपादयेत्। 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'ति न्यायेन तज्ज्ञानं सम्पाद्य तत्सम्भावितदोषाभाव-सम्पादनात्तदसम्पादनस्यैव वरीयस्त्वादिति ॥ ८ ॥

'रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिपुत्रस्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः'।

यह याज्ञवल्क्य स्मृति का वाक्य मूल श्लोक की एकवाक्यता के लिये सुबोधिनी में लिखा है, इसका अर्थ यह है कि जबतक विवाह नहीं हो तबतक कन्या की पिता रक्षा करे, (विन्नां) विवाह होने के अनन्तर पति और बड़ी अवस्था में पुत्र रक्षा करे. पुत्रादिक के अभाव में जाति वाले रक्षा करें, किसी भी अवस्था में स्त्रियों को स्वातन्त्र्य नहीं है—अर्थात् स्त्रियां स्वतन्त्र नहीं रहती हैं।

इस प्रकार स्त्रियों के चार रक्षक है, यहा भी क्रम से कितनी ही गोपस्त्रियों को पति, माता, पिता, पुत्र और बन्धुओं ने रोका था।

यद्यपि गोपियों के पति आदि का भी भगवान में निरोध हो गया था, किन्तु ये फलरस में अनभिज्ञ एवं साधन में लग रहे थे, ये लोग अपने द्वारा ही स्त्रियों का भगवद्भजन मानते थे, स्वतन्त्रता से भजन नहीं मानते थे, तथापि गोविन्द ने गोपियों के अन्तःकरण हरण कर लिये थे, इसलिये भगवान के पास गईं।

पत्यादि के निवारण वाक्य श्रौत हैं, और अन्तःकरण के प्रवर्तक भगवान हैं, अन्तःकरण पर आरूढ–अर्थात् उसके वश में पुरुष जीव हैं।

'काममयः पुरुषः' इस श्रुति में कहा है 'पुरि शेते' शरीर में रहनेवाला पुरुष जीव अन्तःकरण के वश में है। अन्तःकरण को तो भगवान अपने पास आने में प्रवृत्त कर रहे है, अतः गोपियां भगवान के समीप में ही आई हैं। पत्यादि के श्रौत वाक्यों की उपेक्षा कर दी हैं–अर्थात् गोपियां प्रमाणमार्गीय नहीं हैं, पुष्टिमार्गीया हैं, इसलिये प्रमाण वाक्यों पर ध्यान नहीं दिया है।

प्रवाह के वेगमें जाती हुई नौका से यदि कोई कहता है कि ठहर जा,-ठहर जा, तो क्या वह नौका ठहर जाती है, अर्थात् ठहरती नहीं है। इसी प्रकार प्रवाह स्थानीय भगवान अन्तःकरण–

मन आदि को अपनी तरफ प्रेरित कर रहे हैं, फिर नौकास्थानीय गोपियां पति आदि के कहने से कैसे ठहर सकती थीं।

इस प्रकार कहने से यह भी सिद्ध होता है कि शब्द पर गोपियों का अन्तःकरण भगवान ने अपने पास आने के लिये प्रवर्तित-प्रेरित नहीं किया है। इसलिये विचार करती घरों में ही रह गईं।

निषेध तो पति आदि ने सभी गोपियों को किया था, किन्तु इनके मध्य में जिनका मन गोविन्द ने हरण कर लिया था, वे ही गोपियां नहीं लौटीं, और भगवान के पास चली गईं।

भगवान के पास जानेवाली गोपस्त्रियों में भय और मर्यादामार्गीय स्वधर्म नहीं है, इस बात को सूचन करने के लिये यहां (मोहिताः) मोहित हो गईं कहा है।

यदि गोपस्त्रियां कृष्णसमीप नहीं जातीं तो मूर्च्छित की तरह प्राणों का त्याग कर देतीं, कारण कि अन्तःकरण भगवान के पास था, फिर प्राण कैसे रह सकते थे, जब प्राणत्याग का समय होता है, तब भय और स्वधर्म का विचार नहीं होना स्वाभाविक शास्त्रोक्त ही है। बुद्धिरूप अन्तःकरण सम्बन्ध के अनन्तर ही प्राण इन्द्रिय सम्बन्ध का पुरञ्जन प्रसङ्ग में निरूपण किया है।

यहां भी 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' इस न्याय से उक्त आशय है, इसलिये 'मोहिताः' कहा है। 'मुह वैचित्ये' धातु से इसका अर्थ चित्तरहित होता है। मूर्च्छा में भी इसी प्रकार का मोह होता है, इसलिये दृष्टान्त कहा है। मूर्च्छा में बुद्धि केवल सूक्ष्मता से स्थित रहती है, इसलिये प्राणत्याग नहीं होता है।

गोपियों के तो अन्तःकरण सर्वथा भगवान् के पास चले गये, इसलिये यदि वे भगवान के पास नहीं जातीं तो उनके प्राणों का त्याग हो जाता।

स्वतन्त्र में कहा है कि यदि शंका करो कि जिस प्रकार भगवान ने रासके अनन्तर गोपों के लिये गोपियां भगवान के पास नहीं गईं, इस प्रकार का अज्ञान संपादन कराया था, उसी प्रकार यहां भी भगवान के पास जाने का अज्ञान संपादन क्यों नहीं किया।

इसके उत्तर में गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि यदि भगवान गोपों के लिये वन में भगवान के पास जाने के समय भी अज्ञान संपादन करते तो फिर सर्वात्मभाव के स्वरूप का बोध गोपों को नहीं होता, अतः सर्वात्मभाव का बोध कराने के लिये ही इस समय गोपों को गमन ज्ञान कराया है। नहीं तो 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोपों ने गोपियों को अपने पास ही मानते हुए, इस वाक्य से प्रथम ज्ञान पश्चात् अज्ञान संपादन किया, कीच में पद सान कर फिर धोना इस न्याय से प्रथम ही अज्ञान संपादन करते तो सर्वात्मभाव का ज्ञान नहीं होने से गोपों को दोषबुद्धि उत्पन्न हो जाती, अतः दोषबुद्धि नहीं होने के लिये रास के अनन्तर अज्ञान संपादन किया है ॥ ८ ॥

(श्रुबो०) एवं दशविधानां भगवत्समीपगतिमुक्त्वा, यासां-कालः प्रतिबन्धकः। पूर्वमेव भक्तियुक्ताः, ता भजनानन्दमननुभूयैव प्रतिबद्धा एव, भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याह—अन्तर्गृहगता इति त्रिभिः।

इस प्रकार सर्वात्मभाव युक्त नव प्रकार के सगुणभाव वाली, और दशवें निर्गुणभाववाली गुणातीत गोपस्त्रियों का भगवान के पास आगमन कहा, अब जिन गोपस्त्रियों की भगवान में जार बुद्धि थी, उनको काल ने प्रतिबन्ध किया। तृतीय स्कन्ध में कहा है कि 'जो भगवदीय नहीं हैं'

कालमात्रा हैं, प्रतिबन्ध करनेवाले गोपियों के पति काल की मात्रा–अंश हैं, इसलिये काल ने प्रतिबन्ध किया, कहा है।

यदि कहो कि गोपियां भक्त थीं, फिर काल ने प्रतिबन्ध क्यों किया। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यहां यह भाव है, जब द्वेष करनेवाले शिशुपाल को मोक्ष दिया, तब यहां भी गोपियों को साक्षात् सम्बन्ध कराने के लिये प्रतिबन्ध अवश्य करना चाहिये।

भगवान भक्तों को अपनी प्राप्ति में आप प्रतिबन्धन नहीं करते हैं, अतः अधिकारी काल द्वारा प्रतिबन्ध कराया है, इसमें कोई अनुचित नहीं है।

उक्त गोपियों को केवल साधन दशा में ही भक्ति थी, किन्तु फल दशा में जारत्व बुद्धि हो गई, इसलिये भजनानन्द का अनुभव नहीं हुआ, किन्तु काल द्वारा प्रतिबद्ध हो गईं, फिर इनको भगवान का सायुज्य मोक्ष प्राप्त हुआ, इस बात को आगे तीन श्लोकों में कहते हैं—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥ ९ ॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥ १० ॥
तमेव परमात्मनं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—(काश्चित्) कितनी ही गोपस्त्रियां (अन्तर्गृहगताः) भीतर घर में स्थित (अलब्धविनिर्गमाः) निकलने को मार्ग नहीं मिला जिनको (गोप्यः) इस प्रकार की गोपियां (तद्भावनायुक्ताः) भगवान में जारभाव युक्त (मीलितलोचनाः) नेत्र बन्द किये (कृष्णं) कृष्ण का (दध्युः) ध्यान करती हुईं।

(दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः) सहन न होने वाले प्रिय के विरह से उत्पन्न तीव्र ताप द्वारा पाप भस्म हो गये जिनके (ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या) ध्यान में प्राप्त अच्युत समागम के सुख से (क्षीणमङ्गलाः) पुण्य क्षीण—नष्ट हो गये जिनके (तमेव) उसी (परमात्मानं) परमात्मा को (जारबुद्ध्या, अपि) जारबुद्धि से भी (सङ्गताः) संगत हुईं (सद्यः) शीघ्र (प्रक्षीणबन्धनाः) बन्धन नष्ट हो गये जिनके इस प्रकार की गोपियां (गुणमयं) गुणमय (देहं) शरीर को (जहुः)त्याग कर दीं ॥ १०-११ ॥

भाषार्थ–कितनी ही गोपस्त्रियों को घर के भीतर उनके पति आदि ने रोक लिया था, इस लिये उनको बाहर निकलने के लिये मार्ग नहीं मिला, वे सब नेत्रों को भींचकर भगवद्भावयुक्त हो कृष्ण का ध्यान करने लग गईं ॥ ९ ॥

उस समय सहन नहीं होने वाले प्रिय कृष्ण के विरह से उत्पन्न तीव्रताप द्वारा इनके अशुभ–पापकर्म नष्ट हो गये, और फिर ध्यान में प्राप्त अच्युत के समागम के सुखद्वारा इनके पुण्यकर्म क्षीण हो गये ॥ १० ॥

फिर उसी परमात्मा में जारबुद्धि से भी सङ्गत होती गोपियों ने शीघ्र पाप—पुण्यरूप अपने बन्धन नष्ट होने पर गुणमय शरीर का त्याग कर दिया ॥ ११ ॥

(सुबो०) दैवगत्या काश्चिद्गृहमध्ये स्थिताः, गोपभार्याः चातुर्यानभिज्ञाः, अप्रौढाः पतिसहिताः, पतिभिरेव संरक्षिताः, अलब्धविनिर्गमा जाताः । ततः प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं कृष्णमेव ध्यातवत्यः, परं तद्भावनायुक्ताः, भगवान् जारः स्वयमभिसारिका इति । अन्यथा प्रतिबन्धो न स्यात् । तादृश्योऽपि मीलितलोचनाः सत्यो भगवन्तं दध्युः ध्यातवत्यः, ततो मुक्ता जाताः । ननु तत्र ज्ञानाभावात् विहितभक्त्यभावात् भगवतोऽपि सान्निध्याभावात् कथं मुक्ता इत्याशंक्य, कर्मक्षयात् मुक्ता इति वक्तुं कर्मक्षयप्रकारमाह दुःसहेति । दुःसहो यः यः प्रेष्ठविरहः स एव महानग्निः, तस्य यस्तीव्रस्तापः, तेन धुतानि निर्धूतानि ज्वालितानि भस्मसात्कृतानि अशुभानि यासाम् । फलभोगे कर्म क्षीयत इत्यविवादम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भीपाकादिनरकेषु यावद् दुःखं भवेत् तावत्, दुःखं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम् । ततः सर्वः पापफलभोगः समाप्तः । पुण्यक्षयप्रकारमाह ध्यानप्राप्तेति । सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्तः । अच्युतः परमात्मा । न तु समागतोऽपि जारत्वेन, या निर्वृतिः, तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यं यासाम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु स्वर्गादिलोकेषु यावत्सुखमनुभूयते, तावत् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैवानुभूतम् । अतः पुण्यक्षयोऽपि जातः । ततो मुक्ता जाता इत्याह तमेव परमात्मानमिति । सुखभोगार्थमेव भगवान् पूर्वमाश्लिष्टः, भोगे जातेऽपि वियोजकपापाभावात् न वियुक्ताः, अतः संगता एव स्थिताः शरीरं तु प्रारब्धकर्मनिर्वाणमपतत् । यद्याश्लिष्टो भगवान् न भवेत्, तदा तत्र प्रविष्टाः तद्गतं धर्माधर्मफलं बुभुजुः, भगवति प्रविष्टत्वात् मुक्ता एव जाताः । तदाह तमेव परमात्मानमिति । पूर्वं सम्बन्धसमये यद्यपि जारबुद्ध्यापि संगता एव, ततः कर्मबन्धस्य प्रक्षीणत्वात् गुणमयं देहं जहुः । तदा अज्ञानमन्यथाज्ञानं वा त्रिक्षणावस्थायीति न तयोः प्रतिबन्धकत्वम्, वियोजकाभावात् शरीरान्तरोत्पादकाभावाच्च । अविद्या परं तिष्ठति, सा भगवच्छक्तिः, भगवत्संगतं न व्यामोहयतीति सापि निवृत्ता । ततः मुक्ता जाता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

दैवगति से कितनी ही गोपस्त्रियां घर भीतर ही स्थित रह गईं, ये सब गोपों की भार्या चतुरता नहीं जानती थीं, और अवस्था भी छोटी थी, प्रौढ अवस्था नहीं थी, इसके पास पति विद्यमान थे, इनकी पति ही रक्षा करते थे, इसलिये इन गोपियों को बाहर निकलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उस समय प्रतिबन्ध दूर करने के लिये श्रीकृष्ण का ही ध्यान किया, परन्तु भगवान जार हैं, इस प्रकार ध्यान में भावना की, और हम अभिसारिका हैं,(जो नायिका मन्मथ के वश में हो अपने पति को अथवा उपपति को रमण देश में बुलाती है, अथवा स्वयं जाती है, उसको अभिसारिका कहते हैं) ।

यदि गोपियों की भगवान में जारबुद्धि नहीं होती तो इनको प्रतिबन्ध भी नहीं होता, गोपियों ने जारबुद्धि करने पर भी अपनी आंखें मींचकर नेत्र बन्द करके भगवान कृष्ण का ध्यान किया, इसलिये मुक्त हो गईं, इसी बात को श्रवण कर राजा शुकदेव जी से प्रश्न करता है कि गोपियों में ज्ञान नहीं था, और शास्त्रविहित मर्यादा भक्ति भी नहीं थी, और न भगवान ही बाहर प्रकट समीप में थे, फिर अन्तर्गृहगता गोपियों का मोक्ष किस प्रकार हुआ ।

इसका उत्तर शुकदेव देते हैं कि गोपियों का सर्व पाप और पुण्य कर्म क्षय हो गया, इसलिये मुक्ति हो गई ।

कैसे हो गया ? तब शुकदेवजी पापपुण्यकर्मक्षय प्रकार कहते हैं, 'दुःसहप्रेष्ठविरह' इत्यादि श्लोक से, सहन कर नहीं सकती हैं, इस प्रकार का जो प्रियका विरहरूप महान अग्नि, उस अग्नि के तीव्र ताप से गोपियों के सर्व अशुभ—पाप भस्म हो गये, कारण कि फल भोगने पर कर्म का नाश हो जाता है, यह सिद्धान्त निर्विवाद है ।

ब्रह्मा के करोड़ों कल्पपर्यन्त कुम्भीपाकादि नरकों में जितना दुःख अनुभव होता है, उतना दुःख अन्तर्गृहगता गोपियों को भगवान के विरह से एक क्षण में हुआ, इससे सर्वपाप फल समाप्त हो गया ।

फिर सर्वपाप फल समाप्त होने के अनन्तर गोपियों के ध्यान में परमात्मा अच्युत भगवान पधारे, यद्यपि गोपियों ने जारबुद्धि से भगवान को जार मानकर ही ध्यान किया था, तथापि गोपियों के ध्यान में जिस समय भगवान का आविर्भाव हुआ, उस समय आप जारभाव से नहीं पधारे, किन्तु अच्युतत्त्व भाव से पधारे हैं ।

यदि भगवान जारत्व से गोपियों के ध्यान में आते तो कर्म शेष रहता, अर्थात् सर्व कर्मों का नाश नहीं होता, शेष कर्म रहता ।

जिस समय भगवान ध्यान में पधारे उस समय भगवान के समागम से गोपियों को सुख हुआ, इससे समग्र पुण्य नष्ट हो गये ।

ब्रह्मा के करोड़ों कल्पपर्यन्त स्वर्गादि लोकों में जितना सुख अनुभव होता है, उतना सुख गोपियों को ध्यान में भगवान के संगम से क्षणमात्र में अनुभूत हो गया, अतः पुण्य क्षय भी हो गया, पाप और पुण्य क्षय के पश्चात् गोपियां मुक्त हो गईं, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'तमेव परमात्मानम्' इत्यादि ।

सुख भोगने के लिये ही गोपियों ने प्रथम भगवान का समागम किया था, अर्थात् संयोगरस का अनुभव किया था, अनुभव करने के पश्चात् गोपियों में कोई इस प्रकार का कर्मादि शेष नहीं रहा कि जिसके द्वारा भगवान से गोपियों का वियोग हो जाये, अतः गोपियों का भगवान से वियोग नहीं हुआ, और ये गोपियां सदा के लिये भगवान में संगत होती स्थित हो गईं । अर्थात् सदा के लिये भगवान के स्वरूप में स्थित होकर आनन्द का अनुभव करती रहीं और इनका शरीर तो प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर गिर गया ।

यदि गोपियों का जिनके साथ समागम हुआ, वे यदि भगवान नहीं होते तो शरीरान्तर में प्रविष्ट होकर गोपियां दूसरे शरीर के धर्म-अधर्म का फल भोगतीं, परन्तु भगवान में प्रविष्ट हुईं, इसलिये मुक्त ही हो गईं, इसी बात को आगे कहते हैं कि 'तमेव परमात्मानं' ।

गोपियों का प्रवेशाश्रय परमात्मा है, पहिले सम्बन्धसमय में यद्यपि जारबुद्धि से ही संगम हुआ था, पश्चात् अच्युत भगवान कृष्ण के समागम से ही इनके कर्मबन्धन क्षीण हो गये, अतः गुणमय देह त्याग दिये ।

यदि कहो कि भगवान में प्रविष्ट होने पर भी जिस प्रकार जीव अज्ञान आदि वासनायुक्त सुषुप्ति में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार गोपियाँ भी अज्ञान आदि वासनायुक्त ही प्रविष्ट हुईं, इसलिये मुक्ति में प्रतिबन्ध क्यों नहीं हुआ, अर्थात् मुक्ति में तो प्रतिबन्ध ही हुआ, फिर मुक्ति कैसे हुई।

इसका उत्तर कहते हैं कि 'तदा अज्ञानं अन्यथा ज्ञानं वा' इत्यादि, यहां अज्ञान पद से पहिला पर्व कहा है, और अन्यथाज्ञान पद से पर्वान्तर कहा है, आगे अविद्यापद से शक्ति कही है, इस प्रकार भेद है।

गोपियों में भगवान का संगम होने पर अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान तीन क्षण रहा, प्रथम क्षण में भगवान का सङ्ग, द्वितीय क्षण में सङ्गस्थिति, तृतीय क्षण में दोनों का नाश, इस प्रकार तीन क्षण रहा, अर्थात् जिस समय गोपियों का भगवान के साथ समागम हुआ, उस समय गोपियों को भगवान के स्वरूप का ज्ञान नहीं था, कारण कि भगवान में जारबुद्धि थी, अतः गोपियों में क्रम से अज्ञान, अन्यथा-विपरीत ज्ञान था, भगवान के साथ समागम होने पर अज्ञान और अन्यथा ज्ञान तीन क्षण रहा, अतः अज्ञान, अन्यथा ज्ञान मुक्ति प्रतिबन्धक नहीं हुए।

यदि भगवान के स्वरूप से गोपियों का वियोग हो जाये तो भी भगवान के स्वरूप में अज्ञान स्थिर रहे, और उसका नाश नहीं हो।

इसी तरह भगवान से भिन्न किसी अन्य शरीर में गोपियों का प्रवेश हुआ होता तो भी गोपियों में जारबुद्धि रूप अन्यथाज्ञान भी स्थिर रहता।

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि ज्ञान बहुत काल तक रहता है, इस पक्ष में भी पहिले जन्म का अर्थ विस्मृत हो गया, 'प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम। नह्येष व्यवधात्काल एष सर्वं निराकृतिः॥' इस प्रथम स्कन्ध के वाक्य से काल स्मृतिनाशक है, इसलिये उस समय गोपियों को प्रतिबन्ध करने वाले काल में भगत्स्वरूप विषयक अज्ञान और जारत्व से अन्यथाज्ञान त्रिक्षणावस्थायि-विनाश अवस्था में हैं, इसलिये स्वरूप से मुक्ति प्रतिबन्धक नहीं हैं।

यदि कहो कि फिर भी वासनान्तर का तो सत्त्व रहा ही है, इसलिये वासना की स्थिति कैसे नहीं है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि (वियोजकाभावात्) मुक्ति के विरुद्ध संसार की वासना और कर्मों के क्षीण हो जाने से वासना के स्थापक का अभाव है, इसलिये वासनान्तर भी नहीं है। अर्थात् गोपियों में भगवान से वियुक्त करनेवाला कोई भी तत्त्व नहीं था, इसी प्रकार शरीरान्तर उत्पन्न करनेवाली कोई वस्तु नहीं थी, जो गोपियों की मुक्ति में प्रतिबन्ध कर सके, भगवान से वियुक्त होने पर ही स्वरूप का अज्ञान स्थिर हो सकता है, और शरीरान्तर प्राप्त होने पर ही पर्वान्तर अन्यथाज्ञान रूप हो सकता है, इस दोनों का अभाव है, इसलिये तीन क्षण ही रहे, और गुणातीत भगवान में सदा के लिये सङ्गत-मुक्त हुई गोपियों ने जिस समय गुणमय शरीर का त्याग किया उस समय पश्चात् भगवान ने इनके देहादि संघात में अक्रूर जी की तरह अन्य जीव का स्थापन कर दिया।

यदि भगवान गोपियों के शरीर संघात में अन्य जीव स्थापन नहीं करते तो व्रज में अमङ्गल रोना-पीटना बहुत से घरों में एक साथ ही हो जाता, आगे व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता, इसलिये अन्य जीव का स्थापन कर दिये।

जिस समय गोपियों का भगवान से समागम हुआ, उस समय गोपियों में अविद्या थी, अविद्या भगवान की शक्ति है, भगवान के साथ जिसका समागम होता है, उसको व्यामोह नहीं

करती है, इसलिये अविद्या ने भी गोपियों को मोह नहीं किया, अर्थात् अविद्या भी निवृत्त हो गई।

इस प्रकार गोपस्त्रियों के पाप-पुण्य का क्षय हो गया, इसलिये मुक्त हो गईं॥ ११॥

(सुबो०) अत्र राजा श्रुतिविरोधमाशङ्कते—कृष्णमिति।

अन्तर्गृहगता गोपियां जारबुद्धि से भी मुक्त हो गईं, इस श्रुतिविरोध को श्रवण करके राजा आगे श्लोक में शंका करता है—

राजोवाच—

कृष्णं विदुः परं कान्तं नतु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥ १२॥

पदपदार्थ—(राजा) परीक्षित् (उवाच) बोला (हे मुने) हे मननशील गोपियां (परं) श्रेष्ठ (कान्तं) पति (कृष्णं) कृष्णको (विदुः) जानती थीं (ब्रह्मतया) ब्रह्मरूप से (तु) तो (न) नहीं (विदुः) जानती थीं, (गुणधियां) गुणबुद्धिवाली (तासां) गोपियों का (गुणप्रवाहोपरमः) संसार का उपरम-नाश (कथम्) कैसे हुआ॥ १२॥

भाषार्थ—राजा परीक्षित कहता है कि हे मुने अन्तर्गृहगता गोपियां केवल श्रेष्ठकान्त कृष्ण को जानती थीं, ब्रह्मरूप नहीं जानती थीं, फिर गुणबुद्धिवाली अन्तर्गृहगताओं का गुणप्रवाह—संसारका नाश कैसे हो गया॥ १२॥

(सुबो०) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'ति श्रुतौ ज्ञानमेव साधनत्वेनोक्तम्। तत्रैव पुनः 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्। स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्'। उभयोश्च निर्णयः, 'ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः। द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः' इति। 'भक्त्या मामभिजानाती'त्यपि भगवतोक्तम्। ततो मर्यादायां ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ भक्त्या ज्ञानेन वा। एतासां तु न द्वयम्। भक्तिरपि सगुणा, ज्ञानमपि सगुणम्, उभयं च तामसम्। अतः कथं मुक्तिरिति। तदाह ताः कृष्णं कान्तं परं विदुः। कान्तः पतिर्जारोवा, न तु ब्रह्मतया विदुः। मुने इति सम्बोधनमत्र निर्णयपरिज्ञानार्थम्। विरोधस्तु स्पष्टः। तासां भगवति स्वस्मिंश्च गुणबुद्धिरेव। गुणबुद्धिश्च गुणप्रवाहस्य मूलम्, अन्यथा गुणबुद्धिनिवारकाणि सर्वाण्येव शास्त्राणि व्यर्थानि भवेयुः। वैदिकपक्षस्त्वसंभावित एव। अतो गुणधियां गुणबुद्धियुक्तानां गुणप्रवाहोपरमः कथम्॥ १२॥

उस परमात्मा को ही जान करके पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करता है, उसके ज्ञान विना अन्य मार्ग मोक्षप्राप्ति के लिये विद्यमान नहीं है। इस श्रुति में मोक्षसाधक केवल ज्ञान ही कहा है। और मोक्षसाधन के विचार में ही फिर कहा है कि विष्णु-व्यापक भगवान भक्ति से ही प्रसन्न होता है, अन्य किसी साधन से प्रसन्न नहीं होता है, विष्णु ही मुक्तिदाता है, उस मुक्ति में भी भक्ति कारण है। इस प्रकार उक्त वाक्यों से ज्ञान, भक्ति दोनों ही मोक्ष में साधन हैं। इन दोनों का

निर्णय इस प्रकार है कि ज्ञान, योग और निर्गुण भक्ति मुझ में करने से दोनों का फल एक ही भगवान है। इस प्रकार एकादश स्कन्ध में कहा है। भक्ति से ही मुझको जानता है, इस प्रकार गीता में कहा है।

उक्त वाक्यों से स्पष्ट निर्णय होता है कि मर्यादामार्ग में ज्ञान से ही मुक्ति होती है, और पुष्टिमार्ग में भक्ति से अथवा ज्ञान से मुक्ति होती है।

अन्तर्गृहगता गोपियों में तो ज्ञान, भक्ति दोनों ही नहीं हैं, भक्ति भी जारबुद्धि के कारण सगुणा–उपाधिसहित है और ज्ञान भी मोह के कारण सगुण–उपाधिसहित है। जारत्व उपाधि है। भर्तृत्व आदि धर्मरक्षकत्व आदि नहीं हैं, अतः भक्ति और ज्ञान दोनों तामस हैं। फिर इनकी मुक्ति कैसे हुई। इसी बात को राजा परीक्षित कहते हैं कि—

'ताः कृष्णं' इत्यादि।

अन्तर्गृहगता गोपियां श्रेष्ठ कान्त-पति अथवा जार कृष्ण को जानती थीं ब्रह्म नहीं जानती थीं 'हे मुने' सम्बोधन निर्णय परिज्ञानार्थ है, अर्थात् आप मुनि हो इसलिए सबका निर्णय जानते हो, अतः निर्णयार्थ कहिये ?

श्रुतिविरोध तो पहिले कहा स्पष्ट ही है। अन्तर्गृहगता गोपियों की भगवान में तथा अपने में गुणबुद्धि ही है।

गुणबुद्धि—गुणप्रवाह, संसार का मूल है, यदि गुणबुद्धि को गुणप्रवाह का संसार का कारण नहीं मानते हैं तो गुणबुद्धि निवारक सर्वशास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। और यदि गोपियों ने भगवान कृष्ण को ब्रह्म नहीं जाना तो क्या हुआ, बहुत से लोग कृष्ण को ब्रह्म नहीं जानते हैं, तो भी जिनको वेदान्तश्रवण आदि से ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उनकी मुक्ति हो जाती है।

इसी प्रकार गोपियों की भी मुक्ति हो गई होगी ? इस प्रकार शंका हो तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैदिकपक्षस्त्वसम्भावित एव' यहां पर वैदिक पक्ष की तो सम्भावना भी नहीं है। अर्थात् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है, इत्यादि उपनिषन्निरूपित वैदिक पक्ष की तो यहां सम्भावना भी नहीं है। कारण कि गोपियों ने वेदान्त श्रवण मननादि नहीं किये हैं।

अथवा यदि शंका करो कि ब्रह्म सर्वरूप है, इसलिये जारबुद्धि में भी अज्ञान, अन्यथा ज्ञान का जब अभाव है तो ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है।

इसी से 'सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा' भगवान सब का आत्मज आत्मा है, इत्यादि वाक्य है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों में आत्म, अनात्म विवेकवाला सांख्योक्त ज्ञान भी नहीं है। इसलिये 'एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' यहां से लेकर 'स य एवंवित्' यहां तक तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान कहा है, अतः सर्वात्म से ब्रह्मवित् की तो गोपियों में सम्भावना भी करना शक्य नहीं है, इस आशय से राजा ने सांख्य पक्ष पूछा था, इसलिये यहां मूल में कहा है कि 'वैदिकपक्षस्त्वसम्भावित एव' अर्थात् ब्रह्मविद् होने पर परप्राप्ति पक्ष यहां सम्भावित नहीं है। अतः गुणबुद्धियुक्त गोपियों के गुणप्रवाह का उपराम कैसे हो गया। इस प्रकार राजा ने श्रुति विरोध के कारण प्रश्न किया है॥ १२॥

(सुबो०) तत्रोत्तरमाह—उक्तमिति चतुर्भिः।

उक्त शंका का श्रीशुकदेव मुनि चार श्लोकों से उत्तर देते हैं।

(श्रीमद्भा०) श्रीशुक उवाच—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥ १३॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय भक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ १४॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ १५॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥ १६॥

पदपदार्थ—(पुरस्तात्) पहिले (एतत्) यह सप्तमस्कन्ध में (ते) तुम्हारे लिये (उक्तं) कहा है (यथा) जिस प्रकार से (चैद्यः) शिशुपाल (हृषीकेशं) इन्द्रियों के पति भगवान के प्रति (द्विषन्नपि) द्वेष करता हुआ भी (सिद्धिं) मोक्ष को (गतः) प्राप्त हुआ है। (अधोक्षजप्रियाः) अधोक्षज की प्रिय गोपियाँ (किमुत) मोक्ष को प्राप्त हों तो इसमें क्या आश्चर्य है॥ १३॥

(हे नृप) हे राजा (अव्ययस्य) अव्यय (अप्रमेयस्य) अप्रमेय (निर्गुणस्य) निर्गुण (गुणात्मनः) गुणों के आत्मा (भगवतः) भगवान की (व्यक्तिः) प्राकट्य (नृणां) मनुष्यों के (निःश्रेयसार्थाय) कल्याण के लिये है॥ १४॥

(हरौ) हरि में (कामं) काम को (क्रोधं) क्रोध को (भयं) भय को (स्नेहं) स्नेह को (ऐक्यं) एकता को (वा) अथवा (सौहृदमेव) सुहृदता को ही (नित्यं) सदा (विदधतः) विशेष धारण करनेवाले (ते) वे (हि) निश्चय (तन्मयतां) भगवन्मयता को भगवान के स्वरूप को (यान्ति) प्राप्त होते हैं॥ १५॥

(भवता) आप द्वारा (भगवति) भगवान (अजे) अजन्मा (योगेश्वरेश्वरे) योगेश्वरों के ईश्वर (कृष्णे) कृष्ण–सदानन्दमें (एवं) इस प्रकार का (विस्मयः) आश्चर्य (न) नहीं (कार्यः) करना चाहिये (यतः) जिस श्रीकृष्ण द्वारा (एतत्) दृश्यमान जगत् (विमुच्यते) मुक्त हो रहा है॥ १६॥

भाषार्थ—शुकदेव जी कहते हैं कि हे राजा मैंने तुमसे पहिले सप्तम स्कन्ध में कहा था कि शिशुपाल इन्द्रियों के ईश भगवान श्रीकृष्ण से द्वेष करता हुआ भी जिस प्रकार से सिद्धि–सायुज्य मोक्ष को प्राप्त हुआ था, तो फिर अधोक्षज भगवान की प्रिय गोपियां सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है॥ १३॥

हे नृप ! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणात्मा भगवान का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण के लिये है॥ १४॥